ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

स्वामि–सत्यानन्द–सरस्वती–

कृत–

भाषानुवाद-सत्यानन्दी-दीपिकासहितम्

यदाकारा वृत्तिर्भवति मनसो हृद्यधुतये, जगत्सर्वं रज्जौ भुजग इव यत्रास्ति विदितम् ।
अवेद्यं यच्चास्ते सततमपरोक्षं शुभधियाम्, शिवं प्रत्यग्रूपं तदहममृतं नौमि परमम् ॥ १ ॥
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् । सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥ २ ॥
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने । व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥ ३ ॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्, द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्, भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥४॥

सद्ब्रह्मसूत्रवरशाङ्करभाष्यसिन्धोरन्तर्विगाहनसमुत्कजनाभितुष्ट्यै ।
तात्पर्यसङ्कलनभूषितशुद्धराष्ट्रभाषानुवादमहमातनवै नवीनम् ॥ ५ ॥
रथ्योदकं सुरनदीं समवाप्य सद्यः शुद्धिं यथर्च्छति वचः कलुषं मदीयम् ।
शारीरकं समधिगम्य तथैव भाष्यं सम्पत्स्यते नियतमेव चिराय पूतम् ॥ ६ ॥

ध्यायं ध्यायमनामयं पशुपतेः पादाम्बुरोहद्वयं स्मारं स्मारमनारतं बुधमनोहारीर्गुरूणां गिरः।
श्रीमच्छङ्करदेशिकेश्वरकृते भाष्येऽनुवादं सुधीः
सत्यानन्दसरस्वती वितनुते शुभ्रां तथा दीपिकाम् ॥ ८ ॥

"अथ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यप्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः"

इस ग्रन्थमें समन्वय, विरोध परिहार, साधन और फल इस भेदसे चार अध्याय वाली भगवान् बादरायणद्वारा प्रणीत यह शारीरक मीमांसा जीवब्रह्मैकत्व साक्षात्कार हेतुभूत श्रवणात्मक विचार प्रतिपादक न्यायोंको दिखलाती है। उसमें सम्पूर्ण वेदान्त वाक्योंका साक्षात्-परम्परया वा प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है। यह समन्वय इस प्रथम अध्यायसे प्रकाशित किया जाता है। इसमें

'सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥'

महापुरुषोंकी इस उक्तिके अनुसार शास्त्रके आरम्भमें यदि विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्धका प्रतिपादन न किया जाय तो उसमें विज्ञपुरुषोंकी प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए शास्त्रके आरम्भमें उसका निरूपण करना आवश्यक है। इस सम्पूर्ण शास्त्रका जीवब्रह्मैक्य विषय है, उसके ज्ञान द्वारा अविद्या सहित संसाररूप बन्धकी आत्यन्तिक निवृत्ति प्रयोजन है, विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी है, प्राप्य प्रापक भाव, प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव आदि सम्बन्ध हैं। विचारात्मक शास्त्रके आरम्भमें प्रयोजक इन चार, अनुबन्धोंका युक्तिसे निर्णय करनेके लिए भगवान् सूत्रकारने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रकी रचना की। यह तभी सार्थक हो सकती है जब बन्ध मिथ्या हो। यदि बन्ध

* युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतर-भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्यय-

भाष्यानुवाद

शंका—अन्धकार और प्रकाशके समान विरुद्ध स्वभाव वाले युष्मत् (तुम) और अस्मत् (हम[1]) प्रतीतिके विषयभूत विषय और विषयीकी इतरेतरभाव (तादात्म्यकी) अनुपपत्ति सिद्ध होनेपर उनके धर्मोंकी भी सुतरां इतरेतरभावकी अनुपपत्ति है, इसलिए अस्मत् प्रतीतिके

सत्यानन्दी-दीपिका

पारमार्थिक हो तो उसकी उक्त ज्ञानसे कदापि आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मवेत्ता शोक पदसे ज्ञापित बन्धसे मुक्त हो जाता है), 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (मोक्ष केवल ज्ञानसे ही होता है) इत्यादि श्रुतियाँ भी तभी सार्थक हो सकती हैं जब बन्ध मिथ्या हो, मिथ्या भी तभी सिद्ध हो सकता है जब वह अध्यस्त हो, अतः उसकी सिद्धि के लिए भगवान् भाष्य-कार उपोद्घात भाष्यमें 'युष्मद्' आदि द्वारा सर्वप्रथम अध्यासका निरूपण करते हैं—

* जैसे अन्धकारके स्वरूपमें 'यह प्रकाश है' ऐसा भ्रम और प्रकाशके स्वरूपमें 'यह अन्धकार है' ऐसा भ्रम किसीको नहीं होता, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी स्वभावके हैं। यहाँ अन्धकार और प्रकाशके स्वरूपका उदाहरण इसलिए दिया गया है कि प्रकाशमें अन्धकारके विद्यमान होनेपर भी 'यह प्रकाश है' ऐसी बुद्धि होती है। प्रकाशके अधिक प्रदीप्त होनेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक प्रकाश प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रकाशके तारतम्यसे अन्धकारका भी तारतम्य होता है, इसलिए दोनोंका इतना विरोध नहीं है इससे यहाँ स्वरूपका ग्रहण किया गया है अर्थात् अन्धकारके स्वरूपमें प्रकाश बुद्धि और प्रकाशके स्वरूपमें अन्धकार बुद्धि कदापि किसीको नहीं होती। वैसे ही अत्यन्त विरोधी स्वभावके आत्मा और अनात्माका भी अन्योन्य अध्यास (भ्रम) नहीं होता। यहाँ अध्यास भ्रमका पर्यायवाची शब्द है। इसका आगे भाष्यमें विस्तृत वर्णन होगा।

यद्यपि नाम-रूपात्मक समस्त विषय 'इदम्' (यह) शब्द वाच्य है तुम शब्द वाच्य नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति-वाक्यमें 'त्वम्' शब्द आत्मवाची है, इसलिए भगवान् भाष्यकारको आत्मा और अनात्माका ज्ञान करानेके लिए भाष्यस्थ 'युष्मद्' शब्दके स्थानमें 'अस्मद्' शब्दके साथ 'इदम्' शब्दका प्रयोग करना चाहिए था अर्थात् भाष्यस्थ 'युष्मदस्मत्प्रत्यय' के स्थानमें 'इदमस्मत्' ऐसा पाठ होना चाहिए, तो भी विषय और विषयीमें अत्यन्त विरोध दिखलानेके लिए 'इदम्' शब्दका प्रयोग न कर 'युष्मद्' शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि 'इदम्' शब्दका 'अस्मद्' शब्दके साथ अत्यन्त विरोध नहीं है। जैसे कि 'अयमहमस्मि' (यह मैं हूँ) ऐसा लौकिक प्रयोग देखनेमें आता है, परन्तु 'त्वमहमस्मि' (तू मैं हूँ) ऐसा प्रयोग देखनेमें नहीं आता। इसलिए इन लौकिक प्रयोगोंसे सिद्ध होता है कि भगवान् भाष्यकारने विषय और विषयीमें अत्यन्त विरोध सूचित करनेके लिए भाष्यमें 'युष्मदस्मद्' शब्दका प्रयोग किया है।

टिप्पणी—१ लोक प्रसिद्ध 'अहम्' शब्द वस्तुतः शुद्ध चिन्मय आत्माको विषय नहीं करता, किन्तु चिद्-जड़ मिश्रितको विषय करता है, यदि वह शुद्ध चिन्मय आत्माको विषय करता तो मोक्ष शास्त्रकी रचना व्यर्थ सिद्ध होती। किन्तु मोक्ष शास्त्रकी रचनासे यह सिद्ध होता है कि लोक प्रसिद्ध 'अहम्' प्रतीति शुद्ध चिन्मय आत्माको विषय नहीं करती। इस बातको स्वयं भगवान् भाष्यकार आगे स्पष्ट करेंगे।

गोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्; *तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, 'अहमिदं' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

विषयभूत चैतन्य स्वरूप विषयीमें युष्मत् प्रतीतिके विषयभूत विषय और उसके धर्मोंका अध्यास और इसके विपरीत विषयमें विषयी और उसके धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता)। समाधान—तो भी अत्यन्त भिन्न धर्मों और धर्मियोंका भेद ज्ञान न होनेके कारण एकका दूसरेमें परस्पर स्वरूप तथा एक दूसरेके धर्मोंका अध्यासकर सत्य और अनृतका मिथुनीकरणकर 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार मिथ्याज्ञान निमित्त स्वाभाविक यह लोक व्यवहार होता है। आक्षेप पूर्वक पूर्व पक्षी कहता है—यह

सत्यानन्दी-दीपिका

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आत्मासे भिन्न सारा जगत् अर्थात् शरीर आदि जड़ समुदाय अनात्मा है, इसलिए वह 'तुम' शब्दसे गृहीत होता है। आत्मा विषयी है यह बात **'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'** (श्वेता० ३।१९) इत्यादि श्रुतिसे भी सिद्ध होती है। 'तस्य भासा **सर्वमिदं विभाति'** (उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) इत्यादि श्रुतिसे सबका प्रकाशक होनेसे भी आत्मा विषयी सिद्ध होता है। अनात्मा जड़ और प्रकाश्य होनेसे विषय है और आत्मा चैतन्यस्वरूप होनेसे विषयी है। इस प्रकार दोनों अत्यन्त विरोधी स्वभावके हैं। इसलिए दोनोंका परस्पर तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता। धर्मियोंका तादात्म्याध्यास होनेपर ही उनके आश्रित धर्मोंका भी तादात्म्याध्यास होता है, अन्यथा नहीं। जब दोनों धर्मियोंका तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता तो सुतरां उनके आश्रित धर्मोंका भी तादात्म्याध्यास नहीं होगा। अनुमानसे भी यह सिद्ध होता है—

'आत्मानात्मानौ अध्यासरहितौ विरुद्धस्वभावत्वात् तमः प्रकाशवत्' विरोधी स्वभाव होनेसे जैसे अन्धकार और प्रकाश अध्यास रहित हैं, वैसे ही विरोधी स्वभाव होनेके कारण आत्मा और अनात्मा भी अध्यास रहित हैं।

* आत्मा और अनात्मा (देह, इन्द्रिय आदि जड़ समुदाय) ये दोनों धर्मी तथा इनके धर्म परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं। जैसे कि चेतनत्व, नित्यत्व आदि आत्माके धर्म हैं और जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि अनात्माके धर्म हैं। परन्तु यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक चिन्मय, निर्धर्मक आत्मामें चेतनत्व आदि धर्म कैसे हो सकते हैं, तो इसका उत्तर यह है—**"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः"** (**पञ्चपादिका पृ० ६७**)। आनन्द, विषयानुभव, नित्यत्व आदि चेतनात्माके स्वरूपभूत होते हुए भी अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे धर्म जैसे भासते हैं। इस प्रकार दोनों धर्मी और उनके धर्म यद्यपि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, तथापि दोनोंका भेद गृहीत न होनेके कारण दोनों धर्मियोंका एक दूसरेमें अध्यास होता है अर्थात् आत्मारूपी धर्मीमें 'यह मैं हूँ' ऐसी अनात्मबुद्धि और देह, इन्द्रिय आदि अनात्मामें 'यह आत्मा है' ऐसी आत्मबुद्धि होती है। इस प्रकार दोनों धर्मियोंका परस्पर अध्यास होनेपर उनके धर्मोंका भी परस्पर धर्मियोंमें अध्यास होता है। जैसे कि आत्माके चेतनत्व आदि धर्मोंका 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार अनात्मामें और अनात्माके जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि धर्मोंका 'मै जड़, अज्ञानी, परिच्छिन्न हूँ' आत्मामें अध्यास होता है। यद्यपि यह सामान्य नियम है कि धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यास होता है, तथापि यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता, कारण कि स्फटिक मणिमें जपाकुसुमकी लालिमाकी प्रतीति धर्मी अध्यासके विना भी होती है। परन्तु प्रकृतमें तो धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यास होता है, इसलिए धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यासका वर्णन किया गया

आह-कोऽयमध्यासो नामेति । उच्यते,-*स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः । *तं केचित्

अध्यास क्या है ? इसपर कहते हैं—स्मृतिरूप पूर्वदृष्टका अन्यमें (अधिष्ठानमें) अवभास (प्रतीति)

सत्यानन्दी-दीपिका

है । इस रीतिसे अध्यासके सिद्ध होनेपर सत्य और अनृतका मिथुनीकरण होता है, क्योंकि मिथुनीकरणके बिना उक्त लोक प्रसिद्ध व्यवहार उपपन्न नहीं होता ।

सत्य, अनृत और मिथुनीकरणका स्वरूप यह है—'त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वम्' जिसका तीनों कालोंमें बाध न हो वह सत्य है । वह ब्रह्म है, क्योंकि—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) इत्यादि श्रुति ब्रह्मको ही सत्य कहती हैं । 'अतोऽन्यदार्तम्' (उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मसे जो भिन्न है वह सब आर्त- अनृत अर्थात् मिथ्या है) 'अनृतं नाम मिथ्या' 'ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वम्' (जो ज्ञानसे बाधित है वह सब मिथ्या है) इसी प्रकार अध्यास पूर्वक सत्य और अनृतका मिथुनीकरण होता है । व्याकरणानुसार ऐसे स्थलमें 'अभूततद्भावेच्विः' जो वस्तु जैसी नहीं है बलात् उसे वैसा मान लेनेके अर्थमें 'च्वि' प्रत्यय होता है । यथा अनात्मत्व रहित आत्मामें अनात्मभाव अथवा आत्मत्व रहित अनात्मामें आत्मभाव, इसे मिथुनीकरण या युगलीकरण कहा जाता है, इस अर्थमें 'च्वि' प्रत्यय होता है । तदनन्तर 'यह शरीर आदि मैं हूँ' 'यह पुत्र आदि मेरे हैं' अनादि कालसे इस नैसर्गिक लोक प्रसिद्ध व्यवहारका कारण मिथ्या-ज्ञान-अध्यास ही है । यह मिथ्याज्ञान भावात्मक है ।

शंका—लोक प्रसिद्ध यह अनात्म देह आदि सत् हैं अथवा असत् ? यदि सत् हैं तो द्वैतापत्ति होगी, जब कि वह 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय सद्-ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिसे विरुद्ध और बाधित है, इससे देह आदि सत् नहीं हैं । यदि असत् हों तो गगनकुसुम आदिके समान उनकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, किन्तु इनकी प्रतीति भी सर्वानुभव सिद्ध है । ऐसी परिस्थितिमें सत्य और अनृतका मिथुनीकरण कैसे होगा ? मिथुनीकरणका अभाव होनेपर किसका किसमें भेदाग्रह ? उसके न होनेपर अध्यास कैसे ? इस प्रकार अध्यासकी असिद्धि होनेके कारण ग्रन्थका आरम्भ सिद्ध नहीं होगा इत्यादि आशय मनमें रखकर पूर्व पक्षी 'आह' इत्यादिसे अध्यासपर आक्षेप करता है और उसका लक्षण भी पूछता है ।

* "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इस अध्यास लक्षणमें 'परत्र अवभासः' इतना ही अध्यासका लक्षण है, 'स्मृतिरूप और पूर्वदृष्टावभास' ये दोनों पद अध्यासके साधक हैं। इनका पदकृत्य इस प्रकार है—'परत्र' पदमें सप्तमी विभक्ति अधिकरणार्थक है । अतः 'परत्र' परमें-अन्यमें अर्थात् अधिष्ठानमें, अवभास—प्रतीति अर्थात् अन्यमें [अन्यकी] प्रतीति । शंका—अन्यमें किसकी प्रतीति ? समाधान—स्मृतिरूप पूर्वदृष्टकी । स्मृतिरूपका अर्थ स्मर्यमाणके सदृश है, पूर्वदृष्टका अर्थ पूर्वानुभूत है । स्मर्यमाणके सदृश पूर्वानुभूतकी अन्यमें-अधिष्ठानमें प्रतीति । इस प्रकार पदकृत्यसे यह समुच्चितार्थ निष्पन्न हुआ । अब इस अध्यास लक्षणका उदाहरणसे स्पष्टीकरण किया जाता है—जैसे कि 'शुक्ताविदं रजतम्' (शुक्तिमें यह रजत है) परत्र-अन्यमें अर्थात् रजत भिन्न शुक्ति (सीप) में जो रजत (चाँदी) है, वह पूर्वानुभूत और स्मर्यमाणके सदृश—स्मृतिके विषय हट्टस्थित रजतके सदृश भी है, इस प्रकार इस दृष्टान्तमें अध्यास लक्षणका समन्वय है, क्योंकि रजतसे भिन्न शुक्तिरूप अधिष्ठानमें रजतकी प्रतीति अथवा कथन अध्यास है अर्थात् मिथ्यारूप है । 'भ्रमोपादानाज्ञानविषयत्वमधिष्ठानत्वम्' (भ्रमके उपादान कारण भूत अज्ञानका विषय अधिष्ठान है) उस अधिष्ठानमें अज्ञानसे कल्पितको अध्यस्त कहते हैं । जैसे शुक्तिरूप अधिष्ठानमें अज्ञानसे

सत्यानन्दी-दीपिका

कल्पित होनेके कारण रजत अध्यस्त है अथवा रज्जुरूप अधिष्ठानमें अज्ञान कल्पित सर्प अध्यस्त है। इस अध्यास लक्षणमें पूर्वदृष्ट पदसे सूचित किया गया है कि भ्रमकालसे पूर्व अध्यस्त वस्तु अनुभूत होनी चाहिए, अन्यथा अध्यास नहीं होगा। वस्तु व्यावहारिक हो अथवा काल्पनिक इस विषयमें कोई आग्रह नहीं, क्योंकि जिस व्यक्तिने व्यावहारिक सर्प कभी नहीं देखा किन्तु रवड़ आदि निर्मित सर्प देखा है उसे भी संस्कार वलसे रज्जु आदिमें सर्प भ्रम हो जाता है, इसलिए शुक्ति आदिमें रजत आदिका 'नेदं रजतम्' 'यह रजत नहीं है' 'नायं सर्पः' 'यह सर्प नहीं है' इस बाध ज्ञानसे बाध होता है, अतः शुक्ति आदिमें अज्ञानसे कल्पित रजत आदि और उनका ज्ञान बाधित होनेसे कल्पित हैं।

अध्यास दो प्रकारका है—'स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास'। जैसे कि 'शुक्ताविदं रजतम्' (शुक्तिमें यह रजत है) यहाँ रजत शुक्तिमें स्वरूपसे ही अध्यस्त है, क्योंकि भ्रम कालसे पहले वहाँ रजत नहीं था, केवल भ्रमकालमें नूतन अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है और उसका 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञानसे बाध होता है, अतः वह स्वरूपसे ही अध्यस्त है। इस प्रकार शुक्तिका अध्यस्त रजतके साथ संसर्गाध्यास है अर्थात् कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है, इसलिए 'नेदं 'रजतम्' इस ज्ञानसे शुक्तिका केवल संसर्गमात्र ही बाधित होता है।

अब अध्यासकी उत्पत्तिमें कारण सामग्रीका प्रतिपादन किया जाता है—प्रत्येक वस्तुके दो अंश होते हैं एक सामान्य और दूसरा विशेष। अधिष्ठानके सामान्य अंशका ज्ञान और विशेष अंशका अज्ञान, सादृश्य, भेदाग्रह आदि भी भ्रममें अपेक्षित हैं। जैसे कि 'इयं शुक्तिः' इसमें 'इदम्-यह' शुक्तिका सामान्य अंश है, क्योंकि वह 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार सब वस्तुओंमें उपलब्ध होता है और शुक्तित्व विशेष अंश है, क्योंकि वह केवल शुक्तिमें ही सीमित है। सामने रजतके सदृश चमकीला पदार्थ देखकर उसमें व्यक्तिको 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है। कारण कि दोष आदिके बलसे समीपस्थ चमकीले पदार्थके विशेष शुक्तित्व अंशका ज्ञान उस व्यक्तिको नहीं होता। परन्तु जब वह भ्रान्त पुरुष प्रतीयमान रजतको लेने जाता है तब अतिशीघ्र उसे अधिष्ठानके विशेष अंश शुक्तित्वका ज्ञान हो जाता है। वह स्वयं अनुभव करता है कि मुझे इसमें रजतका भ्रम हो गया था। वस्तुतः 'यह शुक्ति है रजत नहीं' यह ज्ञान होते ही अध्यस्त रजत और रजत ज्ञान दोनों बाधित हो जाते हैं। सहस्र यत्न करने पर भी पुनः उनकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे दोनों स्वरूपसे ही अध्यस्त थे, इसलिए वहाँ केवल शुक्ति ही प्रतीत होती है। शुक्तिका अध्यस्त रजतके साथ जो संसर्गाध्यास था, वह भी उसी समय बाधित हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'इदम्' में रजत, रजतज्ञान और संसर्गाध्यास ये तीनों कल्पित थे, अन्यथा उनका बाध नहीं होता, जैसे 'इदम्' अंशका बाध नहीं होता। अतः ये तीनों बाधित होनेसे मिथ्या सिद्ध होते हैं, क्योंकि मिथ्या वस्तुका ही बाध होता है। इससे मिथ्यावस्तुमें अस्ति, भाति और प्रियताकी प्रतीति भी अधिष्ठानकी ही होती है। 'शुक्तिमें यह रजत है' 'गवय (नील गाय) में यह गौ है' इत्यादि भ्रम स्थलोंमें अध्यस्त रजत आदि पूर्व दृष्ट और स्मर्यमाण रजत आदि के सदृश हैं तथा अपनेसे भिन्न शुक्ति आदिमें प्रतीत भी होते हैं। इस प्रकार दोनों धर्मियोंका भेद गृहीत न होनेके कारण भ्रम उत्पन्न होता है। पूर्व-पूर्व अध्यास संस्कार द्वारा उत्तरोत्तर अध्यासमें हेतु है। अध्यास, भ्रम, मिथ्या ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

वेदान्त सिद्धान्तानुसार इसका लक्षण इस प्रकार है–'**सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्**' (सत्, असत्से विलक्षण मिथ्या है) जैसे कि शुक्ति में अध्यस्त रजत न सत् है और न असत्, किन्तु इन दोनोंसे विलक्षण है। इसलिए अध्यस्त रजत सत् नहीं, क्योंकि उसका 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे बाध होता है, असत् भी

सत्यानन्दी-दीपिका

नहीं, क्योंकि भ्रमकालमें उसकी प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है, जब कि असत्‌की प्रतीति कदापि नहीं होती, जैसे असत् गगन कुसुम बन्ध्या पुत्र, शशशृङ्ग आदिकी प्रतीति नहीं होती, योगदर्शनमें इसे विकल्पवृत्ति कहा गया है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो० सू० १।९) (जिसका शब्द श्रवणसे ज्ञान हो किन्तु वस्तु न हो वह विकल्प है) अध्यस्त वस्तु सत् असत् उभयात्मक भी नहीं, क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध है. अतः अध्यस्त वस्तु सत् असत्‌से विलक्षण अनिर्वचनीय उत्पन्न होती है अर्थात् जिस अध्यस्त वस्तुका सत्, असत् और उभयरूपसे निर्वचन न हो वह अनिर्वचनीय है ।

'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः' अब इस अध्यास लक्षणको प्रकृतमें घटाया जाता है—परत्र-अन्यमें अर्थात् चिदात्मरूप अधिष्ठानमें यह सारा कार्यकारणात्मक प्रपञ्च स्वरूपसे ही अध्यस्त है। यद्यपि प्रतीयमान यह प्रपञ्च नूतन है तथापि पूर्वदृष्ट और स्मर्यमाणके सदृश है, क्योंकि यह प्रपञ्च अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चला आ रहा है, इससे यह अनादि कालसे अविद्या द्वारा चिदात्मामें अध्यस्त है । पूर्व पूर्व अध्यासके अनुभव जन्य संस्कार स्मृतिरूप होकर अन्तःकरणमें नूतन अनुभवको उत्पन्न करते हैं, जैसे पूर्व-पूर्व बीज उत्तरोत्तर अङ्कुरोत्पन्न करता है, वैसे ही पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यासमें हेतु है।

चिदात्माका अध्यस्त प्रपञ्चके साथ संसर्गाध्यास है । इसका **'नेह नानास्ति किञ्चन'** (इस ब्रह्म में किञ्चदपि द्वैत नहीं है) इत्यादि श्रुति प्रतिपादन करती है । यह श्रुति प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें प्रतीयमान द्वैतका मिथ्यात्व बोधित करती है । यदि यह दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या न होता तो श्रुति द्वैतका निषेध न करती । भागवत में भी प्रपञ्चके मिथ्यात्वका स्पष्ट वर्णन है—**'मायामात्रमिदं राजन् ! नानात्वं प्रत्यगात्मनि'** (१२।४।२५) (हे राजन् ! यह समस्त दृश्यमान नानात्व—प्रपञ्च प्रत्यगात्मामें मायामात्र-मिथ्या—कल्पित है) स्वामी मधुसूदन सरस्वतीने अपने अद्वैतसिद्धि ग्रन्थमें यह स्पष्ट वर्णन किया है कि—**'अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्'** (पृ० ८) (अद्वैतकी सिद्धि द्वैतमें मिथ्यात्व सिद्धि पूर्वक है, इसलिए द्वैतमें मिथ्यात्वका प्रथम उपपादन करना चाहिए अर्थात् प्रपञ्चमें मिथ्यात्व सिद्ध किये विना प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती) और **'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन'** इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतियाँ भी सार्थक नहीं हो सकतीं, अतः द्वैतप्रपञ्चमें मिथ्यात्व युक्त है । इस विषयमें—**'विमतं—जगत् मिथ्या दृश्यत्वात्,जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवत्'** (अद्वैतसिद्धि पृ० ३०) (यह प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि दृश्य, जड़ तथा परिच्छिन्न है, जैसे शुक्तिरूप्य) यह अनुमान भी है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दृश्यमान जगत् सत् नहीं, क्योंकि **'नेह नानास्ति किञ्चन'** इत्यादि श्रुतिसे बाधित है, असत् भी नहीं, कारण कि उसकी प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, सत्, असत् उभयात्मक भी नहीं, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसलिए यह दृश्यमान समस्त जगत् सत् असत्‌से विलक्षण अनिर्वचनीय है । यद्यपि **'स्मृतिरूपः पूर्वदृष्टः परत्रावभासः'** अध्यासका यह सामान्य लक्षण सर्वसम्मत है, तो भी वादियोंका इस लक्षणके स्वरूपमें जो यत्किञ्चित् विरोध है, उसे भगवान् भाष्यकार आगे भाष्यसे स्पष्ट करते हैं—

*यद्यपि भ्रमस्थलमें अधिष्ठान और आरोप्यके स्वरूपमें वादियोंका मतभेद है, तो भी 'अन्यमें अन्यका अवभास ही अध्यास है, इस सामान्य लक्षणमें वे सब एक मत ही हैं । अन्यमें अन्यका अवभास कैसे होता है, इस विषयमें भगवान् भाष्यकार वादियोंकी भिन्न-भिन्न युक्तियोंके आधार पर उनके सिद्धान्तों के अनुसार "'तं केचित्' इत्यादि भाष्यसे लक्षण कहते हैं । प्रथम उन वादियोंके विषयमें स्पष्ट किया जाता है—

अन्यत्रान्यधर्माध्यास—इति वदन्ति। केचित्तु—यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम—इति। अन्ये तु—यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते—इति।

वही अध्यास है। कोई लोग एकमें दूसरेके धर्मके आरोपको अध्यास कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेदाग्रह निमित्तक भ्रम अध्यास है। अन्य लोग तो जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्मत्वकी कल्पनाको अध्यास कहते हैं। परन्तु सर्वथापि सभी

सत्यानन्दी-दीपिका

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा। तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरेतत्तु ख्यातिपञ्चकम्।
विज्ञानशून्यमीमांसातर्काद्वैतविदां मतम्॥

'आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति ये पाँच ख्यातियाँ क्रमसे विज्ञानवादी, शून्यवादी, मीमांसक, नैयायिक और अद्वैतवादियोंको सम्मत हैं' भगवान् भाष्यकारने प्रथम लक्षणमें 'तं केचित्' इत्यादि भाष्यसे आत्मख्यातिवादी योगाचार और अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकोंका मत प्रदर्शित किया है। आत्मख्यातिवादी योगाचार[1] क्षणिक विज्ञान (बुद्धि) को आत्मा मानते हैं। उनके मतमें क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य कुछ भी नहीं है, तो भी अनादि अविद्या वश विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपसे जो पृथक्-पृथक् अवभासित होता है वही भ्रम है। इस मतमें 'अन्यत्रान्यधर्मावभासः' यह अध्यासका लक्षण है। 'अन्यधर्मका अन्यमें अवभास अध्यास है' अन्यका धर्म-विज्ञानरूप आत्माका धर्म—आकार विशेष जो रजत आदि उसकी अन्यमें—बाह्य असत् शुक्ति आदिमें प्रतीति ही अध्यास है। यद्यपि योगाचार मतमें बाह्य कोई भी पदार्थ नहीं है अर्थात् बाह्य शून्य है, इसलिए वह बाह्यार्थ शून्यवादी भी कहे जाते हैं, तथापि अनादि अविद्या वश क्षणिक विज्ञान ही रजत आदि अनेक आकारोंसे असत् बाह्यमें अवभासित होता है। 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से बाह्य रजतका बाध होने पर भी वह आन्तर विज्ञानरूपसे है, क्योंकि उसके मतमें प्रतीयमान रजत आदि आकार विशेष आन्तर विज्ञानरूप ही हैं अर्थात् वे सब आत्माके ही आकार विशेष हैं। आत्मा ही अनेक आकारोंमें प्रतीत होता है, इसलिए इसे आत्मख्याति कहा जाता है।

नैयायिकोंकी दृष्टिमें यह समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रतीयमान रजत आदि आकार विशेष बुद्धिरूप हैं, ऐसा अनुभव किसीको भी नहीं होता। भ्रमस्थल तथा व्यवहारमें रजत आदिकी आन्तरता किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, किन्तु सुख, दुःख आदि आन्तर हैं और रजत आदि बाह्य, यह तो सर्वानुभव सिद्ध है। रजत आदिको आन्तर माननेमें अनुभवसे भी विरोध है। रजत आदि पदार्थ स्वप्नके अतिरिक्त जाग्रत्में आन्तर अप्रसिद्ध हैं इससे बाह्य प्रतीयमान पदार्थको भ्रमआदिस्थलोंमें आन्तररूपसे कल्पना करना

१ टिप्पणी—बौद्धोंमें चार मत हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक! माध्यमिकमतमें बाह्य और आन्तर सब शून्य है, अतः वह सर्वशून्यवादी कहे जाते हैं। योगाचार मतमें बाह्यार्थ शून्य है, किन्तु आन्तर विज्ञान सत्य है। वह क्षणिक विज्ञानको ही आत्मा कहते हैं। प्रतिक्षणमें नष्ट होनेवाला विज्ञान ही बाह्याकारसे प्रतीत होता है, अतः वह क्षणिक विज्ञानवादी अथवा बाह्यार्थ शून्यवादी कहे जाते हैं। सौत्रान्तिक मतमें बाह्यार्थ तो है, परन्तु क्षणिक होनेसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वह उसे अनुमेय मानते हैं। वैभाषिकमतमें बाह्यार्थ है और वह प्रत्यक्ष भी होता है, सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों बाह्य और आन्तर उभयात्मक पदार्थ मानते हैं, अतः ये दोनों सर्वास्तित्ववादी कहे जाते हैं। इसका विशेष विचार द्वितीय अध्यायके द्वितीयपादमें किया जायगा।

सत्यानन्दी-दीपिका

अप्रसिद्ध है । यदि आन्तर हो तो 'मयि रजतम्' (मेरेमें रजत है) अथवा बुद्धिका धर्म रजत आदि बुद्धि रूप होनेसे 'अहं रजतम्' (मैं रजत हूँ) ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, 'इदं रजतम्' ऐसी सन्मुख प्रदेशमें प्रतीति कदापि नहीं होनी चाहिए, किन्तु 'इदं रजतम्' इस प्रकार बाह्य प्रतीति और प्रवृत्ति दोनों होती हैं, अतः आन्तर रजत आदि असम्भव हैं, क्योंकि ऐसी परिस्थितिमें उसकी बाह्य प्रतीति सम्भव नहीं है । किन्तु बाह्य भ्रमस्थलमें अन्यदेशस्थ रजत आदिकी अन्य (शुक्ति आदि) में प्रतीति होती है, अतः यह आत्मख्याति न होकर अन्यथाख्याति है ।

इसी प्रकार 'तं केचित्' इस प्रथम अध्यास लक्षणसे अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक तथा वैशेषिक मतोंका भी उल्लेख किया गया है । उनके मतमें भ्रमस्थलसे भिन्न हट्ट आदि देशस्थ अनुभूत रजत आदि की नेत्रके दोषसे अन्यत्र-शुक्ति आदि में प्रतीति अथवा कथन अध्यास है अर्थात् भ्रमसे पूर्व हट्ट आदिमें देखे गये रजत आदि नेत्रके दोषसे संस्कारद्वारा भ्रमस्थलमें प्रतीत होते हैं । यह प्राचीन नैयायिकोंका मत है । नव्य नैयायिक चिन्तामणिकार इसका खण्डन करते हैं—यदि नेत्र दोषसे ही दूरस्थ रजत आदिकी सन्मुख शुक्ति आदि में प्रतीति होती है तो भ्रमस्थल और हट्टके मध्यमें वर्तमान वृक्ष आदि अन्य पदर्थोंकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? उनकी भी प्रतीति होनो चाहिए ? परन्तु देखा यह जाता है कि मध्यमें वर्तमान पदार्थोंकी प्रतीति नहीं होती, तो इससे यह मानना पड़ेगा कि नेत्र दोषसे हट्ट आदि स्थित रजत आदिकी भी शुक्ति आदिमें प्रतीति नहीं होती, क्योंकि भ्रमकालमें अथवा बाध कालमें ऐसा अनुभव तो किसीको भी नहीं होता कि हट्ट आदि देशस्थित रजत यहाँ प्रतीत हुआ अथवा उसका बाध हुआ । किन्तु नेत्र आदिके दोषसे शुक्ति आदि ही रजत आदिके रूपसे प्रतीत होते हैं ।

परन्तु शाङ्कर मतानुसार यह अन्यथाख्याति वादी मत भी समीचीन नहीं है, क्योकि वेदान्त सिद्धान्तमें अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास इस भेदसे अध्यास दो प्रकारका माना गया है । किन्तु इसके विपरीत नैयायिक और क्षणिकविज्ञानवादी मतमें केवल ज्ञानाध्यास स्वीकृत है अर्थाध्यास नहीं, क्योंकि नैयायिक भ्रम ज्ञानका विषय देशान्तरस्थ रजत अथवा रजतत्वको मानते हैं और क्षणिक विज्ञानवादी विज्ञानका परिणाम-आकार विशेष आन्तर सत्य रजतको भ्रम ज्ञानका विषय मानते हैं, अतः इन दोनोंके मतमें विषय मिथ्या नहीं है, किन्तु शुक्तिमें रजतत्वका सम्बन्ध प्रतीत होता है इसलिए 'इदं रजतम्' यह ज्ञान मिथ्या है । बाध भी केवल रजतत्वके संसर्गमात्रका होता है ।

अब 'केचित्तु' इस द्वितीय लक्षणसे अख्यातिवादी सांख्य तथा मीमांसक मतोंका उल्लेख है । जैसे—"यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः" जिस शुक्ति आदिमें जिस रजत आदिका अध्यास लोक प्रसिद्ध है वहाँ उन दोनों विषयी ज्ञानोंका भेद गृहीत न होनेके कारण भ्रम–'यह रजत है' ऐसा विशिष्ट व्यवहार होता है, तात्पर्य यह है कि उनके मतमें 'इदं रजतम्' "अयं सर्पः' इत्यादि भ्रम स्थलोंमें शुक्ति तथा रज्जुसे सदोष नेत्रका सम्बन्ध होनेपर शुक्ति तथा रज्जुका शुक्तित्व आदि विशेष अंश प्रतीत नहीं होता; किन्तु सामान्य 'इदम्' अंश प्रतीत होता है । सदोष नेत्रका शुक्ति आदिके साथ सम्बन्ध होने पर सादृश्य आदिसे झटिति रजत आदिके संस्कार उद्भूत होकर रजत, सर्प आदिकी स्मृतिको उत्पन्न करते हैं । यद्यपि स्मृतिज्ञानमें तत्ता अंशकी प्रतीति होती है, परन्तु दोषवश वह लुप्त हो जाती है । इसलिए 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम स्थलोंमें दो ज्ञान होते हैं । 'इदम्' अंशका नेत्रोंसे प्रत्यक्षज्ञान और रजत आदिका स्मृतिज्ञान । इससे ये दोनों ज्ञान सत्य हैं और इनके विषय इदम् और रजत भी सत्य हैं । किन्तु दोषवश दोनों

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति। * कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो

मतोंमें 'अन्यमें अन्यके धर्मकी प्रतीति' इस लक्षणका व्यभिचार नहीं है। इसी प्रकार लोक व्यवहारमें भी अनुभव है कि शुक्ति ही रजतके समान अवभासित होती है; एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रमाओंके समान प्रतीत होता है। अविषय प्रत्यगात्मा—चिदात्मामें विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे होगा?

सत्यानन्दी-दीपिका

ज्ञानों और दोनों विषयोंका भेद गृहीत न होनेके कारण 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादि विशिष्ट व्यवहार होता है, जिससे प्रवृत्ति भी होती है। परन्तु 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे भेदाग्रह निमित्तक भ्रान्ति कालमें दोनों ज्ञानों तथा दोनों विषयोंका जो अभेद व्यवहार होता था वह बाधित हो जाता है और इससे 'इदं रजतम्' यह पूर्व ज्ञान भ्रमरूप कहा जाता है। सांख्य और मीमांसक मतमें वह विशिष्ट व्यवहार ही भ्रमरूप है और वही बाधित होता है। उनके मतमें कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं प्रत्युत ज्ञानमात्र सत्य है।

तत्त्वतः उनका यह अभिमत भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्तिमें रजत भ्रमसे रजतार्थी पुरुषकी निष्फल प्रवृत्ति होती है, इससे भ्रमज्ञान अनुभव सिद्ध है। किञ्च अख्यातिवादी मतसे तो बाधज्ञान के अनन्तर रजतकी स्मृति और शुक्ति ज्ञानका भेद गृहीत न होनेके कारण मेरी शुक्तिमें प्रवृत्ति हुई थी, ऐसा बाधज्ञान होना चाहिए? और स्मृतिमें तत्तांशका लोप आदि अनेक विरुद्ध कल्पनाओंकी अपेक्षा एक भ्रमज्ञान मानना युक्तियुक्त है। किञ्च भ्रमस्थलमें अङ्गुली निर्देश पूर्वक रजतार्थीकी नियमसे प्रवृत्ति हुआ करती है। जहाँ नियमसे प्रवृत्ति होती है वहाँ रजत और रजतज्ञान दोनोंकी उत्पत्ति मानना युक्त है। अतः भ्रमस्थलमें एक ही विशिष्ट ज्ञान होता है।

अब **'अन्ये तु'** इस तृतीय लक्षणसे शून्यवादी माध्यमिक मतका उल्लेख करते हैं—**''यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते''** 'जिसमें—शुक्तिमें जिस रजत आदिका अध्यास है, तस्यैव—उसी शुक्तिमें विपरीतधर्म—अत्यन्त असत् रजतकी रजतरूपसे प्रतीति अथवा शुक्तिमें अत्यन्त असत् रजतकी कल्पनाको अध्यास कहते हैं' अर्थात् वे अत्यन्त असत् रजतकी प्रतीतिको असत्ख्याति कहते हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अत्यन्त असत् रजतकी प्रतीति हो सकती है तो असत् गगनकुसुम, वन्ध्यापुत्र आदिकी भी प्रतीति होनी चाहिए? परन्तु होती नहीं, इससे अत्यन्त असत् रजत आदिकी भी भ्रम स्थलमें प्रतीति असंभव है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि 'अन्यमें अन्यका अवभास' यह अध्यासका लक्षण सर्ववादी सम्मत है। इस बातको भगवान् भाष्यकारने **'सर्वथापि'** इत्यादिसे दिखलाया है। यद्यपि सभी पक्षोंमें अधिष्ठान और आरोप्यका किस प्रकार अध्यास होता है, इस विषयमें विवाद है, तो भी 'अन्यमें अन्यधर्मकी प्रतीति अध्यास है, इस लक्षणमें किसीको विवाद नहीं और इस लक्षणका कहीं व्यभिचार भी नहीं है। यहां तक आत्मख्याति, अन्यथाख्याति, अख्याति और असत्ख्याति इन चारोंका संक्षेपसे वर्णन किया गया। अब क्रमसे प्राप्त शाङ्कर वेदान्त अभिमत अनिर्वचनीयख्यातिका भी विचार किया जाता है—'सत् असत्से विलक्षण प्रतीतिको अनिर्वचनीयख्याति कहते हैं'। यथा 'शुक्ताविदं रजतम्' इस प्रतीतिका विषय रजत अनिर्वचनीय है, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस बाध ज्ञानसे बाधित होनेके कारण वह सत् नहीं, प्रतीतिका विषय होनेसे गगनकुसुम आदिके समान असत्—अलीक भी नहीं, सत्, असत् उभयात्मक भी नहीं,

विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्यया-

जब कि सब लोग पुरोवर्ती (इन्द्रियसंयुक्त) विषयमें अन्य (इन्द्रियासंयुक्त) विषयका अध्यास करते हैं और तुम युष्मत् (तुम) ऐसी प्रतीतिसे रहित प्रत्यगात्माको अविषय कहते हो । कहते हैं—यह

सत्यानन्दी-दीपिका

क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध है, अतः भ्रमस्थलमें सत्, असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय रजतकी प्रतीति होती है, इससे इसे अनिर्वचनीयख्याति कहते हैं ।

अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति और प्रतीति इस प्रकार होती है— अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर विषयके समान आकारको प्राप्त कर विषयस्थ आवरणका नाश करती है और वृत्तिस्थ आभास विषयको प्रकाशित करता है, वैसे तो चाक्षुष ज्ञानमें प्रकाश आदि बाह्य सामग्री भी अपेक्षित है । बाह्य पदार्थोंका 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार चाक्षुष प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है । परन्तु जहाँ शुक्ति आदिमें रजत आदिका भ्रम होता है वहाँ अन्तःकरणकी वृत्ति शुक्तिके साथ सम्बन्धित होनेपर तिमिर आदि दोष वश शुक्तिके आकारको धारण नहीं कर सकती, इससे शुक्तिस्थ आवरणकी भी निवृत्ति नहीं हो पाती, तो वहाँ शुक्तिके विशेष अंशका ज्ञान न होनेके कारण पूर्वानु-भूत रजतके संस्कार जाग्रत हो जाते हैं, जिससे शुक्ति चेतनस्थ अविद्या क्षुब्ध होकर तमोगुणसे रजता-कार परिणामको प्राप्त होती है । जिस समय जिस निमित्तसे शुक्ति चेतनस्थ अविद्याका रजताकार परिणाम होता है, उसी समय उसी निमित्तसे साक्षी चेतनस्थ अविद्याका सत्त्वगुण भी ज्ञानाकारसे परिणत हो जाता है । इस प्रकार भ्रमस्थलमें रजत आदि विषय और उसका ज्ञान एक ही समय अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं । किसी सत्ख्याति वादीके मतमें शुक्तिमें रजतके सत्य अवयव विद्यमान हैं, उन्हींमें सत्य रजत उत्पन्न होता है । इस प्रकार यदि रजत सत् मानें तो उसका बाध कदापि नहीं होगा, जब कि 'नेदं रजतम्' ऐसा बाध सर्वानुभव सिद्ध है, अतः यह मत भी युक्त नहीं है । इसलिए भ्रमस्थलमें अध्यस्त वस्तु सत् असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है । इस प्रकार मिथ्याप्रतीतिमें विद्वान् तथा साधारण लोग सब एक मत हैं ।

अब भगवान् भाष्यकार 'तथा च' इत्यादिसे सिद्धान्तको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं । शङ्का—अन्यमें अन्यकी मिथ्या प्रतीति तो सर्वानुभव सिद्ध है, जैसे शुक्ति आदिमें रजत आदिकी । परन्तु अभिन्न वस्तुमें भेद भ्रम तो अनुभव विरुद्ध है, अतः वेदान्तमतमें चिदात्मासे अभिन्न जीवोंका भेद कैसे ? समाधान—अङ्गुली आदि व्यवधानके कारण नेत्रसे जैसे एक चन्द्रमा भी दोके समान प्रतीत होता है, वैसे ही अविद्या उपाधिके कारण ब्रह्म और जीव दो माने जाते हैं, इस प्रकार औपाधिक भेद सिद्ध होनेपर अध्यास भी सिद्ध है । परन्तु

"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति"

(ब्रह्म तथा जीवके भेदजनक अज्ञानका आत्मसाक्षात्कारसे अत्यन्त बाध होनेपर जीव ब्रह्मका असत् भेद कौन करेगा) । इस प्रकार अध्यासके सामान्य लंक्षणका निरूपण कर अब चिदात्मामें अनात्म अध्यासका निरूपण करते हैं । इसलिए इसे संभावना अध्यास भी कहा जाता है । अब ॐ 'कथं पुनः' इत्यादिसे चिदात्मामें अध्यास पर आक्षेप करते हैं ।

शुक्ति, रज्जु आदि जो जो प्रत्यक्ष अध्यासके अधिष्ठान हैं वे सब इन्द्रिय संयुक्त होनेसे विषय हैं, अतः उनमें रजत, सर्प आदिका अध्यास संभव है । परन्तु रूप आदि रहित आत्मा चक्षु आदि

एतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि ? उच्यते,—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्; अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित

आत्मा अत्यन्त—सर्वथा अविषय नहीं है, क्योंकि वह अस्मत् (अहम्) प्रत्ययका विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्मरूपसे प्रसिद्ध है। किञ्च यह भी कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती विषयमें ही विषयान्तर का अध्यास होना चाहिए, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाशमें भी अविवेकी लोग तलमलिनता आदिका

सत्यानन्दी-दीपिका

इन्द्रियोंसे अग्राह्य होनेके कारण अविषय हैं, इसलिए अविषय आत्मामें अहंकार आदि विषय और उनके जड़त्व आदि धर्मोंका अध्यास कैसे हो सकता है ? यदि अध्यासके लोभसे आत्माको विषय कहें तो 'न चक्षुषा गृह्यते' (मु० ३। १।८) (यह आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता) 'यच्चक्षुषा न पश्यति' (केन० १।६) (जिसे कोई अन्तःकरणवृत्ति युक्त नेत्रसे नहीं देखता) 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (केन० १।३) (उस ब्रह्म तक नेत्र आदि इन्द्रियाँ नहीं जातीं) इत्यादि श्रुति-वाक्य बाधित होंगे ? **समाधान**- भगवान् भाष्यकार 'उच्यते' इत्यादिसे आत्मामें अध्यास होने की प्रतिज्ञा करते हैं—आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है, किन्तु लोक प्रसिद्ध अहं प्रतीतिका विषय है। यह आत्मा बाल, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित आदि सबका अन्तरात्मा है, स्वप्रकाश होनेसे सबको प्रत्यक्ष है, इसलिए सब दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि 'मैं हूँ' अपने अस्तित्वके विषयमें कदापि किसीको सन्देह आदि नहीं हैं। आत्मा स्वप्रकाश है, इसमें 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (क० ५।१५, श्वेता० ६।१४, मुण्ड० २।१०) (उस आत्मा के प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसीके प्रकाशसे प्रकाशमान है) और 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गीता० १५।६) (उस स्वयं प्रकाशमय परम पदको न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाशित कर सकता है)

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥'

(गीता० १५।१२) (हे अर्जुन ! जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसे तू मेरा ही तेज जान) इत्यादि श्रुति, स्मृति भी प्रमाण हैं। इस प्रकार आत्मा जब स्वप्रकाशरूपसे प्रतीत हो रहा है, तो उसमें अध्यास भी सम्भव है।

अब **'न चायमस्ति नियमः'** इत्यादिसे न्याय मतानुसार समाधान करते हैं—ऐसा कोई ऐकान्तिक—अव्यभिचरित नियम नहीं है कि इन्द्रिय संयुक्त पुरोवर्ती विषयमें ही भिन्न विषयका अध्यास हो। उद्भूतरूप और स्पर्श युक्त द्रव्य ही नेत्र तथा त्वक् इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षके योग्य होता है, परन्तु आकाश दोनों गुणोंसे रहित होनेके कारण दोनों इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं है और मनसे भी अप्रत्यक्ष है, क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रिय सहयोगके विना बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें वह अस्वतन्त्र है, तो भी अप्रत्यक्ष आकाशमें अविवेकी पुरुष पृथिवी आदिकी छायारूप मलिनता अथवा इन्द्रनीलमणिके कटाह (कड़ाही) के समान तलसदृशताका अध्यास करते हैं अर्थात् आकाश नीला है और कटाहके समान है। इस प्रकार जब अप्रत्यक्ष आकाशमें अध्यास हो सकता है तो अप्रत्यक्ष आत्मामें भी अनात्मा-अहंकार आदि और उनके सुख-दुःख आदि धर्मोंके अध्यास होनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

शंका—अधिष्ठान और अध्यस्त दोनोंका सादृश्य भी तो अध्यासमें हेतु है, जैसे कि शुक्ति और रजत, रज्जु और सर्प आदिका सादृश्य इनके परस्पर अध्यासमें हेतु है, तो ऐसे ही आत्मा और

एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति, अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते; तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। ❀ तत्रैवं सति यत्र

अध्यास करते हैं। इस प्रकार प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास भी अविरुद्ध है। उक्त लक्षणवाले इस अध्यासको विद्वान् लोग 'अविद्या' ऐसा मानते हैं और इसके विवेक द्वारा वस्तु स्वरूपके निश्चयको 'विद्या' कहते हैं। ऐसा होनेपर—अध्यासके अविद्यात्मक होनेपर अथवा वस्तु स्वरूपका निश्चय होनेपर जिसमें जिसका अध्यास होता है, तत्कृत दोष अथवा गुणके साथ अणुमात्र भी वह सम्बन्धित नहीं होता।

सत्यानन्दी-दीपिका

अनात्माका भी परस्पर कोई सादृश्य होना चाहिए, जिससे इन दोनों का परस्पर अध्यास हो? परन्तु इनका परस्पर सादृश्य किसी प्रकार भी संभव नहीं, तो अध्यास कैसे? **समाधान**—जैसे आकाश और नीलगुण दोनोंमें परस्पर कोई सादृश्य न होने पर भी 'आकाश नीला है' ऐसा अध्यास सर्वानुभव सिद्ध है, वैसे ही आत्मा और अनात्माके अध्यासके विषयमें समझना चाहिए। यह समाधान न्याय मतानुसार किया गया है। [वेदान्तसिद्धान्तमें तो आकाश साक्षीभास्य होनेसे प्रत्यक्ष ही है] अतः आत्मा और अहंकार आदि और उनके धर्मोंका अध्यास हो सकता है। अन्य अध्यासोंको छोड़कर किसलिए आत्मा और अनात्मा और उनके धर्मोंके अध्यासका शङ्का समाधान द्वारा निरूपण किया गया है? किञ्च प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ज्ञानसे निवृत्त होनेवाली तथा संसारकी मूलभूत अविद्याको छोड़कर अध्यासके निरूपणका प्रयोजन क्या है? भगवान् भाष्यकार इन शङ्काओंका **'तमेतम'** इत्यादिसे समाधान करते हैं। इस प्रकार अध्यासकी संभावना दिखलाकर अब उसमें प्रमाण कहते हैं—अन्यमें अन्यके अवभासात्मक अध्यासको पण्डित लोग अविद्या और अध्यासके बाधात्मक तथा चिदात्मारूप अधिष्ठानके स्वरूपके निश्चयको विद्या कहते हैं।

यद्यपि—अविद्या ही सर्व अनर्थका बीजरूपसे श्रुति, स्मृति इतिहास पुराण आदिमें प्रसिद्ध है और उसकी निवृत्तिके लिए सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त हैं, तो भी उसे छोड़कर कार्यात्मक अध्यासका वर्णन करनेका प्रयोजन यह है कि कारणात्मक अविद्या सुषुप्ति तथा प्रलयमें स्वरूपसे विद्यमान होनेपर भी अनर्थमय नहीं है, किन्तु जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें कार्यरूपसे—कर्तृत्व भोक्तृत्वरूपसे अनर्थकी हेतु है, आत्मामें अनात्मबुद्धि आदिका अध्यास ही अनर्थका साक्षात् हेतु है अन्य अध्यास नहीं, अतः यहाँ अन्य अध्यासोंका वर्णन नहीं किया गया है।

आगे **'तत्रैवं सति'** इससे आत्मामें अनात्मप्रतीतिको अध्यास माननेका प्रयोजन कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि अध्यास अविद्याका कार्य होनेसे अविद्यात्मक है। अतः जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका अध्यास होता है, उसके गुण अथवा दोषसे वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नहीं होता। जैसे बुद्धि आदि आत्मामें स्वरूपसे अध्यस्त हैं, इसलिए उनके राग-द्वेष आदि दोषोंसे आत्मा अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता और आत्माका बुद्धि आदिके साथ केवल संसर्गाध्यास है तो आत्माके चैतन्य, आनन्द आदिसे बुद्धि आदि भी कभी सम्बन्धित नहीं होते।

"आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्कदापि मूढैर्मतिदोषदूषितैः।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं मरीचिकावारिमहाप्रवाहः॥"

(बुद्धि दोषसे दूषित अज्ञानियों द्वारा आरोपितकी हुई वस्तु अपने आश्रय—अधिष्ठानको कदापि दूषित नहीं कर सकती। जैसे मृगतृष्णाका महान् जल प्रवाह अपने आश्रय ऊसर भूमि खण्डको

यदध्यासः, तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। * कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति? उच्यते,—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः

पूर्वोक्त इस अविद्या संज्ञक आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्यासको आगे रखकर सब लौकिल और वैदिक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त हुए हैं और विधि, निषेध बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं तो फिर अविद्यावाला प्रमाता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रका आश्रय कैसे हो सकता है? कहते हैं—देह, इन्द्रिय आदिमें अहं, मम अभिमान रहित आत्माका प्रमातृत्व अनुपपन्न होनेसे उसमें प्रमाणकी प्रवृत्तिकी भी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि इन्द्रियोंका ग्रहण किए विना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार संभव नही होते और अधिष्ठान (इन्द्रियोंका आश्रयभूत शरीर) के विना इन्द्रियोंका व्यवहार संभव

सत्यानन्दी-दीपिका

कश्चित् भी गीला नहीं करता)। इससे यह सिद्ध होता है कि अधिष्ठान अध्यस्त वस्तुके गुण, दोषसे किञ्चिन्मात्र भी लिप्त नहीं होता। किञ्च अध्यस्त वस्तु अविद्यात्मक होनेके कारण अधिष्ठानके अपरोक्ष ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार साक्षीभास्य अपरोक्ष अविद्या-अध्यास प्रमाता आदिका, विधि (यजेत) प्रतिषेध (सुरापान आदिका निषेध) बोधक ऋग्वेद आदि कर्मशास्त्रका, विधि प्रतिषेध से रहित मोक्ष-जीवब्रह्मैक्य-बोधक उपनिषद् आदि शास्त्रका हेतु है। इस तरह तीन प्रकारके व्यवहारका कारण होनेसे अध्यास यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है, तो भी अज्ञानापन्न आत्माको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्रोंके प्रामाण्यके विषयमें पूर्वपक्षीकी शङ्काका * 'कथं पुनः' इत्यादिसे उल्लेख करते हैं—

यहाँ अभिप्राय यह है कि देहमें 'मैं देह हूँ' इस अभिमानसे तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों और शरीरावयवोंमें 'ये मेरे हैं' इस ममाभिमानसे रहित सुप्त पुरुष प्रमाता नहीं हो सकता, प्रमाताके अनुपपन्न होनेपर श्रोत्र आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं ही सकती, इसलिए देह में 'अहम्' अभिमानके समान श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें भी 'मम' अभिमान होना चाहिए। **शंका**—जबकि देहमें 'मैं देह हूँ' इस अभिमान मात्रसे लोक प्रसिद्ध व्यवहार हो सकता है, तो श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें 'मम' अभिमान माननेका प्रयोजन? **समाधान**—श्रवण आदि इन्द्रियोंमें 'मम' अभिमानसे रहित पुरुषका 'मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ' इत्यादि लोक प्रसिद्ध व्यवहार नहीं होगा। जैसे अन्ध पुरुषका 'मैं देखता हूँ, ऐसा व्यवहार नहीं होता, इसलिए इन्द्रियोंमें 'मम' अभिमान मानना युक्त है। किन्तु इन्द्रियोंके आश्रयभूत देहके विना इन्द्रियोंका व्यवहार असम्भव है, अतः देहका ग्रहण भी आवश्यक है। परन्तु जब तक देहमें आत्मभाव अध्यस्त नहीं है तब तक इस देहसे कोई व्यापार भी नही होता। यदि अध्यस्त आत्मभावके विना देहसे लोक प्रसिद्ध व्यवहार मानें तो सुषुप्तिमें भी देहसे पूर्ववत् व्यापार होना चाहिए, किन्तु वहाँ किसी प्रकार का भी व्यापार नहीं होता, अतः लोक प्रसिद्ध व्यवहारकी सिद्धिके लिए देहमें आत्मभावरूप अध्यास मानना पड़ेगा, क्योंकि **'असङ्गो ह्यं पुरुषः'** (बृ० ४।३।१५) (यह पुरुष असङ्ग ही है) इत्यादि श्रुति सिद्ध असङ्ग आत्माके साथ शरीर आदिका आध्यासिक सम्बन्धके विना अन्य संयोग आदि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, इसलिए आत्मामें आध्यासिक सम्बन्धसे ही प्रमातृत्व है वास्तवमें नहीं। प्रमाका आश्रय अथवा कर्ता प्रमाता कहा जाता है, अबाधित अन्तःकरणकी वृत्तिको प्रमाण कहते हैं, परन्तु वृत्ति जड़ होनेसे घट, पट आदि पदार्थोंको प्रकाशित नहीं कर सकती, इसलिए

संभवति । न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति । न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते । न चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रामातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च । * पश्वादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते,

नहीं होता । अनध्यस्त आत्मभाववाले शरीरसे कोई व्यापार नहीं कर सकता । और उपर्युक्त इन सब अध्यासोंके न होनेपर असङ्ग आत्मामें प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता, प्रमाताके विना प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्वानोंका ही आश्रय करते हैं ।

और पशु आदिके व्यवहारसे विद्वान्के व्यवहारमें विशेषता नहीं है, जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका शब्द आदि विषयोंके साथ सम्बन्ध होने पर पशु आदि भी उन शब्द आदिका ज्ञान प्रतिकूल होनेपर उधरसे निवृत्त होते हैं और अनुकूल होने पर उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं । हाथमें दण्ड उठाए हुए किसी पुरुषको सन्मुख आते देखकर 'यह मुझे मारना चाहता है', ऐसा समझ कर पशु वहाँसे भागने लगते हैं और यदि हाथमें हरी घास पकड़ी हो तो उस व्यक्तिके प्रति अभिमुख होते हैं । वैसे ही लोकव्यवहारमें हम प्रायः देखते हैं कि खड्ग हाथमें उठाए क्रूरदृष्टिसे ललकारते हुए बलशाली

सत्यानन्दी-दीपिका

अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही घट आदि पदार्थोंका प्रकाशक है और उसीको प्रमा कहते हैं । "प्रमाकरणं प्रमाणम्" 'प्रमाका करण प्रमाण है, न्यायमतमें 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाके प्रति नेत्र आदि इन्द्रियाँ प्रमाण मानी जाती हैं, अनुमितिज्ञानके प्रति लिङ्गज्ञान अथवा व्याप्तिज्ञान प्रमाण है, शाब्दी प्रमाके प्रति पदज्ञान प्रमाण है, इस प्रकार अन्य प्रमाणोंके विषयमें भी समझना चाहिए ।

'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि व्यवहार आत्मामें तब सिद्ध हो सकता है जब व्यापार विशिष्ट अन्तःकरणका आत्मामें स्वरूपसे अध्यास हो और आत्माका अन्तःकरणमें संसर्गाध्यास हो । इस प्रकार दोनों धर्मियों और उनके धर्मोंका परस्परमें अध्यास मानने पर ही प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हो सकता है, अन्यथा नहीं । अन्वय-व्यतिरेकसे भी यही सिद्ध होता है कि उक्त व्यवहार अध्यास मूलक है । शंका—अध्यासके विना भी तो विद्वानोंमें उपर्युक्त व्यवहार देखनेमें आता है । कोई भी विद्वान् यह नहीं कहता कि हमारा व्यवहार अध्यास मूलक है, तो यह नियम कैसे सिद्ध हो सकता है ? समाधान–आपको कौन-सा विद्वान् अभीष्ट है, 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान सम्पन्न विद्वान् अथवा शास्त्रोंसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवण मात्रसे आत्मा और देह, बुद्धि आदि अनात्माके भेदको जाननेवाला परोक्ष ज्ञान सम्पन्न विद्वान् ? प्रथम विकल्पका उत्तर तो ब्रह्मसूत्र ४ में कहा जायगा । जहाँ बाधित अध्यासकी अनुवृत्तिको लेकर उक्त व्यवहार सिद्ध किया गया है । तथा द्वितीय विकल्प तो अभीष्ट है, क्योंकि आत्माके परोक्षज्ञान मात्रसे आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अपरोक्ष भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता । यथा रज्जुमें 'यह सर्प है' इस प्रत्यक्ष भ्रमकी निवृत्ति रज्जु के 'वह रज्जु है' इस परोक्ष ज्ञानसे नहीं होती । इस आशयसे भगवान् भाष्यकारने अविद्वान्को अध्यास मूलक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार तथा शास्त्रका आश्रय कहा है । आगे इसीको 'पशु' आदिके उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं —

हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते। ※ शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम्, अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम्, असंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च।

पुरुषको देखकर विद्वान् लोग भी वहाँ से हट जाते हैं, तथैव उसके विपरीत स्निग्ध दृष्टिवाले मधुरभाषी सोम्य पुरुषके प्रति प्रवृत्त होते हैं। अतः पुरुषोंका प्रमाण, प्रमेय व्यवहार पशु आदिके समान है अर्थात् दोनोंके व्यवहारमें भेद नहीं है। और यह तो प्रसिद्ध है कि पशु आदिका प्रत्यक्ष आदि व्यवहार अविवेक पूर्वक होता है। किञ्च उनके साथ समानता देखनेसे विवेकी पुरुषोंका भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार, व्यवहारकालमें पशु आदिके समान ही है, ऐसा निश्चित होता है।

शास्त्रीय व्यवहारमें तो यद्यपि देहसे भिन्न आत्माका स्वर्ग आदि लोकोंके साथ सम्बन्ध जाने विना विवेक पूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष अधिकृत नहीं होता, तथापि उपनिषद्वेद्य क्षुधा आदिसे अतीत, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद शून्य असंसारी आत्मतत्त्वकी कर्मके अधिकारमें अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें आत्मतत्त्वका उपयोग नहीं है और अधिकारका विरोध है। इस प्रकारके आत्मज्ञानसे

सत्यानन्दी-दीपिका

※ यद्यपि यह ठीक है कि पशु आदिको इदंरूपसे आत्मा तथा अनात्माका ज्ञान नहीं है, तो भी 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इत्यादि ज्ञान उनमें भी पाया जाता है, यह ठीक है कि उनको मनुष्यके समान विशेष विवेक नहीं है। यदि वे भी मनुष्यके समान आत्मोपदेश श्रवण तथा ग्रहण करनेमें समर्थ हों तो उनको भी विवेक ज्ञान हो सकता है, जैसे कि काकभुशुण्ड आदिको हुआ है। हाँ! मनुष्यको भी यदि इस प्रकारका उपदेश न किया जाय तो उसे भी पशु आदिके समान विवेक नहीं हो सकेगा। निष्कर्ष यह है कि जैसे आत्म, अनात्म विवेक शून्य पशु आदिका खान-पान आदि व्यवहार अध्यास मूलक है, वैसे ही अविद्वान्‌का भी यह खान-पान आदि व्यवहार अध्यास मूलक है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यास होनेपर ही यह प्रसिद्ध लोक व्यवहार होता है अन्यथा नहीं। किञ्च जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें अध्यासके होनेपर 'मैं, मेरा, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि व्यवहार होते हैं, किन्तु सुषुप्ति अवस्थामें अध्यासके न होनेपर नहीं होते, तो इस अन्वय-व्यतिरेकसे भी यह व्यवहार अध्यास मूलक ही सिद्ध होता है। इस प्रकार व्यवहाररूप हेतुसे विवेकी पुरुषका देह आदिमें 'अहं, मम' अभिमान अध्याससे ही है।

शंका—यह लोक प्रसिद्ध व्यवहार भले ही अध्यास मूलक हो, परन्तु शास्त्रीय व्यवहार तो अध्यास मूलक नहीं है, क्योंकि उसमें देह आदिसे भिन्न आत्माका ज्ञान अपेक्षित है, अन्यथा शास्त्रीय कर्म आदि कोई भी व्यवहार सिद्ध न होगा? इसका समाधान 'शास्त्रियं' इत्यादिसे करते हैं।

※ भाष्यस्थ 'तु' शब्द प्रत्यक्ष आदि व्यवहारसे शास्त्रीय व्यवहारकी भिन्नता सूचित करता है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि शास्त्रीय यज्ञ आदि कर्मोंके अधिकारमें देहसे भिन्न आत्मा है, केवल ऐसा ज्ञान अपेक्षित है अथवा आत्माका तत्त्वज्ञान (साक्षात्कार)? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि उससे प्रत्यक्ष अध्यासकी निवृत्ति नहीं होती, कारण, इस प्रकारके ज्ञानका अध्याससे विरोध नहीं है,

प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि-'ब्राह्मणो यजेत्' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य

पूर्व प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुषके आश्रयत्वका उल्लङ्घन नहीं करता अर्थात् शास्त्र अविद्वान्का ही आश्रय करता है, जैसे कि 'ब्राह्मणो यजेत' (ब्राह्मण याग करे) इत्यादि शास्त्र, आत्मामें वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि विशेष अध्यासका आश्रय कर प्रवृत्त होते हैं।

अतद्में तद्बुद्धि ही अध्यास है अर्थात् उससे भिन्नमें उसकी बुद्धि ही अध्यास है, ऐसा

सत्यानन्दी-दीपिका

प्रत्युत उससे अध्यास अधिक दृढ़ होता है, क्योंकि यज्ञ आदि कर्मका फल कर्ता तभी भोग सकता है जब इस देहसे कर्ता, भोक्ता आत्माको (अपनेको) भिन्न समझे, अन्यथा स्वर्ग आदि फल बोधक शास्त्र निरर्थक सिद्ध होगा। सुतरां कर्म शास्त्र अपनी सार्थकताके लिए देहसे भिन्न कर्ता, भोक्ता आत्माकी अपेक्षा रखता है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं कर्ता भोक्ता संसारी हूँ' ऐसा ज्ञान ही कर्मोंमें अपेक्षित है। इसलिए अनादि अविद्या जन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्व आदि अभिमान युक्त पुरुषको लेकर ही विधि, निषेध शास्त्र प्रवृत्त होते हैं। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि इससे विपरीत उपनिषद्-गम्य क्षुधा, पिपासा आदि द्वन्द्वोंसे तथा ब्राह्मणत्व आदि मिथ्या अनात्म-अभिमान-रहित आत्मसाक्षात्कार विधि, निषेध शास्त्रमें अधिकृत नहीं है, कारण कि उसका उसमें उपयोग नहीं है और साथ-साथ अधिकारका विरोध भी है। इसलिए ब्रह्माभिन्न आत्मसाक्षात्कारके पूर्व प्रवर्तमान विधि, निषेध शास्त्र अविद्वान्का ही आश्रय करते हैं। जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति अध्यासमें प्रमाण हैं वैसे ही शास्त्र भी प्रमाण है। यथा **'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत'** (ब्राह्मणत्व अभिमान वाला ब्राह्मण बृहस्पतिसव नामक याग करे) **'राजा राजसूयेन यजेत'** (क्षत्रियत्व अभिमानवाला राजा राजसूय नामक याग करे) यह श्रुति वाक्य आत्मामें ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वर्णका, न ह्वै स्नात्वा भिक्षेत' (ब्रह्मचारी स्नानकर-समावर्तनके अनन्तर गृहस्थाश्रममें आकर भिक्षा न करे) 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' (गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाला ब्रह्मचारी अपने समान धर्मपत्नीको प्राप्त करे) इत्यादि वेद वाक्योंसे आत्मामें ब्रह्मचारी आदि आश्रमोंका, **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'** (ब्राह्मण बालकका आठवें वर्षमें उपनय संस्कार करे) यह वेद वाक्य आत्मामें वर्ण और आयुका, 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' (नव जात पुत्र वाला तथा कृष्ण केशों वाला व्यक्ति श्रौताग्निका आधान करे) यह श्रुति वाक्य आत्मामें यौवन आदि अवस्था विशेषका अध्यास प्रतिपादित करता है।

अथवा अवस्था अध्यास **'अप्रतिसमाधेयव्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्यागः'** (प्रतिकार रहित व्याधि ग्रस्त व्यक्ति जल आदिमें प्रवेश कर प्राण त्याग करे)। **'वर्णाश्रमवयोवस्थादि'** इस भाष्य वाक्यमें प्राप्त आदि पदसे ब्रह्महत्यादि महापातक और गोबध आदि उपपातकोंका अध्यास भी ग्रहण करना चाहिए। पातकोंके विषयमें विशेष विवरण मनुस्मृतिके अध्याय ११, श्लोक ६८ आदिमें द्रष्टव्य है। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें ब्राह्मण आदि वर्ण, आश्रम आदिमें अभिमान रखनेवाले व्यक्तिका अनुवाद पूर्वक अध्यासका समर्थन प्राप्त होता है।

यद्यपि आक्षेप तथा समाधान द्वारा आत्मा और अनात्माका अध्यास प्रमाण सिद्ध है, तो भी यह अनर्थका हेतु कैसे है तथा किसका किसमें अध्यास है? इन शङ्काओंका प्रथम अध्यासके लक्षणका स्मरण कराते हुए भगवान् भाष्यकार 'अध्यासो नाम' इत्यादिसे समाधान करते हैं—

* **अस्मिंतस्तद्बुद्धिः अध्यासः** (रजत भिन्न शुक्तिमें रजत बुद्धि ही अध्यास है) यह अध्यास

प्रवर्तन्ते। ❀ अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा–पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति; तथा देहधर्मान्–स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्–मूकः, काणः, क्लीवः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्–कामसंकल्पविचिकित्साऽध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य, तं च

पहले हम कह चुके हैं। जैसे कि कोई पुत्र, स्त्री आदिके अपूर्ण और पूर्ण होनेपर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थोंके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है। तथा 'मैं स्थूल हूँ' मैं कृश हूँ, मैं गौर हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जाता हूँ, मैं लाँघता हूँ, इस प्रकार देहके धर्मोंका अध्यास करता है और 'मैं मूक हूँ, काना हूँ, नपुंसक हूँ, बधिर हूँ, अन्धा हूँ' इस प्रकार इन्द्रियोंके धर्मोंका अध्यास करता है। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरणके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है। इसी प्रकार अहं प्रत्यय (वृत्ति) वाले अन्तःकरणका अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके

सत्यानन्दी–दीपिका

लक्षण "**स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः**" इस पूर्वोक्त लक्षणका संक्षेपमात्र है। यहाँ 'अहम्' यह धर्मीका तादात्म्याध्यास है और 'मम' यह धर्माध्यास है। धर्माध्यासके विना केवल धर्मी अध्यास अनर्थका हेतु नहीं है। धर्माध्यास ही साक्षात् अनर्थमय संसारका हेतु है। इसलिए भगवान् भाष्यकार पहले '**तद्यथा**' इत्यादिसे धर्माध्यासका ही उदाहरण द्वारा विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हैं।

"**कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव (बृ० १।५।३)**"
(इच्छा, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, ज्ञान, भय यह सब मन ही है) इत्यादि श्रुतिसे काम आदि सब अन्तःकरणके ही धर्म कहे गए हैं। इस प्रकार धर्मोंका अध्यास कहकर '**एवमहम्**' इत्यादिसे धर्मियोंका अध्यास कहते हैं। अन्तःकरणकी सुख-दुःख आदि वृत्तियोंके प्रकाशक अन्तरात्मामें पहले तो 'मैं' ऐसी अहंवृत्तिरूप ज्ञानके आश्रयभूत अन्तःकरणका स्वरूप अध्यास होता है, तदनन्तर अन्तःकरणके सुख-दुःख आदि धर्मोंका अध्यास होता है। इसी प्रकार धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यास होने पर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि लोक प्रसिद्ध व्यवहार होता है। इस प्रकार अन्तःकरण आदिका आत्मामें स्वरूपाध्यास दिखलाकर अब आत्माका अनात्म-अन्तःकरणमें 'तं च' इत्यादिसे संसर्गाध्यास दिखलाते हैं। आत्मा अहंकार आदि प्रपञ्चसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिए उसके साथ आत्माका स्वरूपाध्यास न होकर संसर्गाध्यास-कल्पिततादात्म्य सम्बन्ध है। बुद्धि आदिका आत्मामें स्वरूपाध्यास होनेसे उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी मिथ्या प्रतीति होती है। यदि आत्माका बुद्धि आदिके साथ संसर्गाध्यास न मानें तो उसमें चैतन्य आदिकी प्रतीति कदापि नहीं होगी, अतः दोनोंका परस्पर अध्यास मानना ही युक्त है।

अब '**एवमयम्**' इत्यादि भाष्यसे उक्त अध्यासका उपसंहार करते हैं। "**विस्तरेण निरूपितस्य पदार्थस्य सारांशकथनेन तन्निरूपणसमापनमुपसंहारः**" (विस्तारसे निरूपित पदार्थका सारांश कथनसे उसके निरूपणकी समाप्ति उपसंहार है) यह इसका लक्षण है। अविद्या अनादि है, उसका कार्य होनेसे अध्यास भी अनादि है। जैसे बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे पुनः बीज, इस प्रकार प्रवाहरूप होनेसे इसे नैसर्गिक कहा गया है। इस अध्यासका उपादान कारण अनादि अविद्या है और निमित्तकारण पूर्व-पूर्व अध्यासके संस्कार। ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके विना निवृत्त न होनेके कारण यह अनन्त कहा गया है। इसमें '**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा**' (भ० गी० १५।३) (संसार

प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

साक्षीभूत प्रत्यगात्मामें अध्यास-आरोपकर और इसके विपरीत उस सर्व साक्षी प्रत्यगात्माका अन्तःकरण आदिमें अध्यास करता है, तो इस प्रकार अनादि अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानरूप और [आत्मामें] कर्तृत्व भोक्तृत्व आदिका प्रवर्तक अध्यास सर्वजन प्रत्यक्ष है।

इस अनर्थके हेतुभूत अध्यासकी समूल निवृत्तिके लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान प्राप्तिके लिए सब वेदान्तोंका आरम्भ होता है। जिस प्रकार सब वेदान्तोंका यह ब्रह्मात्मैकत्व प्रयोजन है, उसे उसी प्रकार हम यहाँ शारीरक मीमांसामें दिखलाएँगे।

सत्यानन्दी-दीपिका

वृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचार कालमें उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि न तो इसका आदि और न अन्त है, न स्थिति तथा मायामय होनेसें मिथ्या प्रतीत होता है) यह स्मृति प्रमाण भी है,

अतः यह कार्याध्यास मिथ्या प्रत्ययरूप है। आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थोंका हेतु अध्यास है। इसकी कारण भूत अनादि अविद्याकी अत्यन्त निवृत्तिके लिए 'ब्रह्म और आत्मा एक हैं' इस प्रकारके ज्ञान सिद्धिके लिए वेदान्तों-उपनिषदोंका आरम्भ आचार्योंने माना है। तात्पर्य यह है कि वेदान्तोंका विषय जीव ब्रह्मकी एकता है तथा अनर्थकी अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष इनका प्रयोजन है, यहाँ निवृत्ति शब्द मिथ्यारूप प्रतीति समझना चाहिए ! वेदान्त विचारका जो विषय और प्रयोजन हैं वही विषय और प्रयोजन वेदान्तके विचारात्मक शारीरिक मीमांसा शास्त्रके भी हैं।

इस ग्रन्थको शारीरक मीमांसा इसलिए कहा जाता है कि **'शीर्यत इति शरीरम्'** (नाशको प्राप्त होता है, अतः इस स्थूल देहको शरीर कहते हैं) अथवा **'कुत्सितं शरीरं शरीरकं तत्र भव शारीरकम्'** (घृणित होनेसे यह शरीर ही शरीरक है और शरीरकमें रहनेवाले जीवको शारीरक कहते हैं) जीवका ब्रह्मरूपसे जो विचार वह शारीरक मीमांसा है। जीव-ब्रह्मका ऐक्य विचार प्रशंसनीय होनेसे पूजित है, क्योंकि इसी विचारसे जीव का परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है अन्यथा नहीं, इस हेतुसे इस प्रकृत ग्रन्थको शारीरक मीमांसा कहा जाता है। उपनिषदोंमें जो प्राण आदि उपासनाओंका वर्णन है वह चित्तकी एकाग्रता और शुद्धि द्वारा जीव ब्रह्मके अभेद ज्ञान होनेमें सहायक है, इस प्रकार उपासनाओंका भी जीव-ब्रह्मकी एकतामें ही तात्पर्य है। उपर्युक्त रीतिसे विषय और प्रयोजन सिद्ध होनेसे यह शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्ध हुआ।
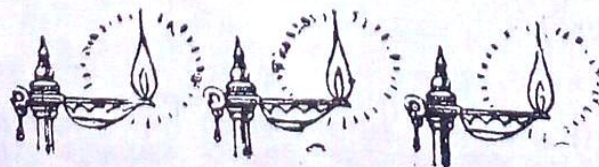
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः

[अत्र पादे स्पष्टलिङ्गयुक्तानां वाक्यानां विचारः]

"इस पादमें स्पष्ट ब्रह्मलिङ्ग युक्त वाक्योंका विचार है"

[१ जिज्ञासाधिकरणम् । सू० १]

❀ वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

व्याख्यानके विषयीभूत वेदान्तमीमांसा शास्त्रका यह आदि सूत्र है अर्थात् जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं उस वेदान्तमीमांसा शास्त्रका यह प्रथम सूत्र है ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१॥

पदच्छेद—अथ, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा ।

सूत्रार्थ—विवेक आदि साधन चतुष्टयरूप सम्पत्ति सिद्धिके अनन्तर कर्मफलके अनित्य और ज्ञानफल मोक्षके नित्य होनेसे मुमुक्षुको ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए ।

सत्यानन्दी-दीपिका

❀ 'यद्यपि अध्यासकी सिद्धिके अनन्तर विषय और प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर प्रस्तुत ग्रन्थका आरम्भ करना युक्त है, तथापि इस विचारका विषय वेदान्त पूर्वमीमांसा (यज्ञ आदि कर्म समुदायका प्रतिपादक-वेदके पूर्व भागका विचारात्मक) से गतार्थ है कि नहीं ? इस प्रकार प्रश्नके उपस्थित होनेपर प्रस्तुत शास्त्रके आरम्भमें सन्देह हो जाता है कि क्या यह ग्रन्थ आरम्भणीय है कि नहीं ? मीमांसक मतमें समस्त वेदका तात्पर्य विधिमें है । "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (वेद क्रियार्थक है अक्रियार्थक वेद अनर्थक है) । जैसे कि 'यजेत' (याग करे) 'जुहुयात्'(अग्निहोत्र करे) इत्यादि विधियाँ हैं । वेदमें यज्ञ आदि अनुष्ठानकी आज्ञा विधि कही जाती है । प्रवृत्ति निवृत्ति रहित सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद वाक्य-मन्त्र, नामधेय तथा अर्थवादकी विधिवाक्यके साथ एक-वाक्यता कर धर्ममें प्रामाण्य माना गया है । "अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै० सू० १।१।१) इत्यादि जैमिनि मुनि प्रणीत सूत्रोंद्वारा विधि आदिका विचार किया गया है । इस प्रकार विधिका विचार किए जानेपर वेदान्त गतार्थ है अर्थात् धर्म आदिसे पृथक् जीव ब्रह्मका ऐक्यरूप विषय वेदका अर्थ-प्रयोजन नहीं है, अतः जीव-ब्रह्मकी एकतारूप विषयके स्थिर न होनेसे इस शास्त्रका आरम्भ निष्फल है ? **समाधान**—तात्पर्य यह है कि यदि 'यजेत' इत्यादि विधियोंको ही वेदका अर्थ मानें तो ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण सिद्ध न होगा, परन्तु सर्वज्ञकल्प भगवान् बादरायण (वेदव्यास) द्वारा ब्रह्मसूत्रकी रचना यह सिद्ध करती है कि वेदान्तसे अतिरिक्त अन्य शास्त्रसे ब्रह्म अवगत नहीं है । इसलिए अन्य शास्त्रसे अप्रतिपाद्य ब्रह्म बोधक वेदान्त विचारात्मक प्रस्तुत शास्त्रका आरम्भ युक्त है । इस प्रकार विषय और प्रयोजन दोनों सिद्ध हुए । "अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः" (जो अल्प अक्षरोंवाला, असंदिग्ध अर्थवाला, सारयुक्त बहुमुखी, आकारमें छोटा और निर्दोष हो, उसे सूत्रवेत्ता सूत्ररूपसे जानते हैं) यह सूत्रका लक्षण है ।

शंका—ब्रह्म विषयक जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए ? **समाधान**—

"विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । प्रयोजनं संगतिश्च प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः"

"विषयः सन्देहः संगतिः पूर्वपक्षः सिद्धान्त इत्येकैकमधिकरणं पञ्चावयवं ज्ञेयम्"

"विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, प्रयोजन और सङ्गति इस प्रकार विद्वान् लोग इसे अधिकरण रूपसे जानते हैं । कोई इसे पञ्चावयव भी मानते हैं ।"

सत्यानन्दी-दीपिका

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ । दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ (सां०का०१)

जिनसे प्रत्येक संसारी महान् दुःखका अनुभव करता रहता है, तथा जिनकी अत्यन्त निवृत्ति चाहता है वे अनुभूयमान दुःख आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक भेदसे शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कहे गए हैं। उनमेंसे मनुष्य, पशु, पक्षी जल-थल, अग्नि आदि भूतोंके निमित्तसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक, ग्रह, पिशाच, राक्षस आदिसे उत्पन्न दुःख आधिदैविक कहा जाता है। शारीरिक तथा मानसिक इस भेदसे आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारका है। वात, पित्त तथा कफ इन तीनोंसे अथवा भुक्त अन्न, जल आदिसे परिणत रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य इन सात धातुओंसे इस स्थूल शरीरकी रचना होती है। इनके सम रहनेसे शरीर स्वस्थ रहता है और विषमतासे शरीरमें कोई न कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है, जिससे दुःखका अनुभव होता है। विषय सम्बन्धी काम, क्रोध आदिसे उत्पन्न दुःख मानसिक कहा जाता है। इन दुःखोंसे आक्रान्त पुरुषको इनसे मुक्त होनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

शंका—लौकिक उपाय बहुत हैं, जिनसे उक्त दुःख हटाए जा सकते हैं। जैसे औषधि आदिके सेवनसे शारीरिक रोग निवृत्त हो सकता है तथा सुन्दर स्त्री आदिकी प्राप्तिद्वारा काम आदि जन्य मानसिक दुःखोंकी निवृत्ति संभव है। मणि, मन्त्र आदिके अनुष्ठानसे आधिदैविक दुःख निवृत्त हो सकते हैं। नीतिशास्त्र आदिकी कुशलतासे आधिभौतिक दुःखोंका भी जब प्रतिकार हो सकता है, तो फिर अतिपरिश्रम साध्य ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? **समाधान**—यद्यपि समुचित लौकिक उपायोंसे उक्त दुःखोंकी यत्किञ्चित् निवृत्ति हो सकती है, तो भी दुःख मात्रकी अत्यन्त निवृत्ति तो ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके विना नहीं हो सकती, अतः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है। **शंका**—यदि लौकिक उपायोसे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती तो यज्ञ आदि वैदिक उपायोंसे हो जायगी? **समाधान**—'**दृष्टवदानुश्रविकः**' (यज्ञ आदि वैदिक कर्म कलाप भी लौकिक उपायोंके समान ही हैं) क्योंकि "**तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते**" (छा० ८।१।६) (जैसे यहाँ लौकिक कर्मोंसे सम्पादित अन्नादि फल नष्ट हो जाता है, वैसे ही वैदिक पुण्य कर्मोंका स्वर्ग आदि फल भी क्षीण हो जाता है) इत्यादि श्रुति प्रमाण है। जैसे साधनोंके तारतम्यसे लौलिक फलोंमें सातिशय-तारतम्य होता है; वैसे ही ज्योतिष्टोम, वाजपेय आदि वैदिक साधनोंके तारतम्यसे स्वर्ग आदि फलोंमें भी तारतम्य होता है, सातिशय फल अनित्य है। इसमें "**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥**" (गी० ९।२१) (वे पुण्यशाली उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) यह स्मृति प्रमाण है। इसलिए "**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।**" (गी० ८।१६) (परन्तु हे कौन्तेय ! मुझ आत्माको अभिन्नरूपसे प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि मैं नित्य, व्यापक, सबका अभिन्न अन्तरात्मा हूँ) "**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥**" (मु० २।२।४) (उस प्रत्यगभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कार होनेसे हृदयग्रन्थि (चित्-जड़-ग्रन्थि) टूट जाती है आत्मविषयक सब सन्देह नष्ट हो जाते हैं तथा सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि श्रुति, स्मृतिसे यह सिद्ध होता है कि वेदान्त शास्त्रसे भिन्न अन्य शास्त्रोंके श्रवण आदिसे संशय और विपर्यय निवृत्त नहीं होते, क्योंकि कोई इस स्थूल शरीर, कोई श्रोत्र आदि इन्द्रिय, कोई मन, बुद्धि आदिको आत्मा मानते हैं। तथा कोई आत्माका अणु परिमाण कोई मध्यम परिमाण मानते हैं। कोई आत्माको कर्ता, भोक्ता तथा व्यापक कहते

＊ तत्र अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। ＊ सति चानन्त-

सूत्रस्थ 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक परिगृहीत है, आरम्भार्थक नहीं, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ नहीं किया जा सकता और मङ्गलका वाक्यार्थमें समन्वय नहीं होता, इसलिए अन्य अर्थमें (आनन्तर्यार्थमें) प्रयुक्त हुआ ही 'अथ' शब्द श्रवणद्वारा मङ्गलरूप प्रयोजनवाला होता है। फल (विचार) की कारण भूत पूर्व प्रकृत (पूर्ववर्तमान) के साथ जो अपेक्षा है उसका आनन्तर्यसे भेद नहीं है।

सत्यानन्दी-दीपिका

हैं, कोई केवल भोक्ता मानते हैं। कोई आत्माको जड़, कोई चेतन, कोई जड़ चेतन उभयात्मक मानते हैं। इस प्रकार अनेक मतोंके श्रवणसे अव्युत्पन्न श्रोताको आत्मविषयक सन्देह आदि होना स्वाभाविक है। इनमेसे किसी एक मतमें आस्थाको भ्रान्ति ही समझना चाहिए उससे अनर्थमय संसारकी निवृत्ति नहीं होगी। जहाँ सन्देह और प्रयोजन होते हैं वहाँ ही जिज्ञासा होती है। उस सन्देह की निवृत्ति और प्रयोजनकी सिद्धि वेदान्तशास्त्रके विचारसे ही हो सकती है। अन्यथा नहीं, अतः सुतरां ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है। इस प्रकार प्रत्यगभिन्न ब्रह्मतत्त्वके जिज्ञासुको यहाँ अधिकारी[1] समझना चाहिए। इसी आशयको सूत्रकारने सूत्रस्थ 'अथ' शब्दसे सूचित किया है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस 'अथ' शब्दका अर्थ यहाँ आनन्तर्य है। आनन्तर्यसे अभिप्राय यहाँ उन्हीं साधनोंसे है जिनकी सिद्धिके अनन्तर मुमुक्षुको ब्रह्मजिज्ञासा स्वयमेव होती है। यद्यपि "मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथोऽथ" अमरकोशके इस वचनसे 'अथ' शब्दके 'मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, कार्त्स्न्य (पूर्ण) इत्यादि अनेक अर्थ बताए गए हैं और इन्हीं अर्थोंमें आचार्योंने 'अथ' शब्दका प्रयोग भी किया है। जैसे 'अथ योगानुशासनम्' योगदर्शनके इस प्रथम सूत्रमें 'अथ' शब्द 'आरम्भ' अर्थमें प्रयुक्त है। और "अथातो धर्मजिज्ञासा" "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाके इन प्रथम सूत्रोंमें अथ शब्द 'आनन्तर्य' अर्थमें प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि आचार्योंको यहाँ आनन्तर्य अर्थ ही अभिप्रेत है।

[1]यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य है आरम्भ नहीं, क्योंकि इस सूत्रमें जिज्ञासा पद भी है।

---

१ टि०—अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध ये चारों अनुबन्ध चतुष्टयनामसे शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। "ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्" (ग्रन्थमें प्रवृत्तिके प्रयोजक ज्ञान "मदिष्टसाधनम्" का विषय अनुबन्ध है) यहाँ साधन चतुष्टय सम्पन्नता ही अधिकारीका लक्षण है। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षता ये साधन-चतुष्टय हैं। आत्मा सत् है और अनात्म-जगत् असत् (मिथ्या) है, इस भेदज्ञानका नाम विवेक है। विवेक वैराग्यमें हेतु है, इस लोक तथा परलोकके भोगोंमें नितान्त अरुचि वैराग्य है। अनन्तर षट्सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा, ये छः षट्सम्पत्ति कहे जाते हैं। विषयोंसे मनका निग्रह शम और इन्द्रियोंका निग्रह दम है। वेद तथा गुरुवाक्योंमें विश्वास श्रद्धा है। संयत्त मनको विषयोंकी ओर न जाने देनेका नाम समाधान है, त्यक्त पदार्थोंको पुनः इच्छा न हो वह उपरति है। भूख, प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहन तितिक्षा है। प्रत्यगभिन्न ब्रह्मकी प्राप्ति तथा अनर्थकी अत्यन्त निवृत्ति मोक्षका स्वरूप है, उसकी प्राप्तिकी इच्छाका नाम मुमुक्षता है। उक्त साधन-चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी कहा जाता है। विषय और प्रयोजनका पहले वर्णन हो चुका है। विषय और ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, अधिकारी और विषयका प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है, इसप्रकार यह अनुबन्ध-चतुष्टय है।

यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम् । स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्यं तु समानम् । नन्विह कर्माव-

तो 'अथ' शब्दके आनन्तर्यार्थक होनेपर जैसे धर्मजिज्ञासा पहले नियमसे होनेवाले कारण भूत वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है, वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी पहले नियमसे रहनेवाली जिस वस्तुकी अपेक्षा रखती हो उसे कहना चाहिए । [यदि स्वाध्याय-अध्ययनका आनन्तर्य माना जाय तो वह ठीक नहीं, क्योंकि]

सत्यानन्दी-दीपिका

क्या जिज्ञासा पदका अर्थ ज्ञानकी इच्छा है अथवा लक्षणासे विचार ? प्रथमपक्षमें 'अथ' शब्दके आरम्भार्थक होनेसे ब्रह्मज्ञानकी इच्छा आरम्भ की जाती है, ऐसा सूत्रका अर्थ होगा, परन्तु यह अर्थ, असङ्गत है, क्योंकि इच्छा आरम्भ करने योग्य नहीं है । प्रत्येक अधिकरणमें इच्छाका आरम्भ नहीं होता, किन्तु उसके द्वारा विचार किया जाता है । दूसरे पक्षमें कर्तव्य पदका अध्याहार किए विना यह अर्थ सिद्ध नहीं होता, सूत्रमें कर्तव्य पदके अध्याहार करनेपर उससे ही आरम्भ अर्थ हो जाता है तो इसका ब्रह्मविचार करना चाहिए अर्थात् ब्रह्मविचारका आरम्भ करना चाहिए यह अर्थ होता है। इस प्रकार 'कर्तव्य' पदसे 'अथ' शब्दके अर्थके निकल आनेसे 'अथ' शब्द व्यर्थ होगा, इसलिए दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है । अतः अधिकारीकी सिद्धिके लिए 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य ही संगत है। अपि च जैसे 'अथ' शब्दका अर्थ यहाँ आरम्भ अभिप्रेत नहीं है, वैसे मङ्गल भी अभिप्रेत नहीं, क्योंकि मङ्गल वाक्यार्थमें समन्वित नहीं होता, पदार्थ ही वाक्यार्थमें समन्वित होता है । वह पदार्थ चाहे वाच्य हो अथवा लक्ष्य । यहाँ मङ्गल न तो 'अथ' शब्दका वाच्यार्थ है और न लक्ष्यार्थ ही। इसलिए सूत्रस्थ 'अथ' शब्दका मङ्गल अर्थ भी नहीं है ! **'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुराः । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥'** (सृष्टिके आदि कालमें 'ओंकार और अथ' ये दोनों शब्द ब्रह्माके कण्ठसे निकले हैं, इसलिए दोनों माङ्गलिक हैं) यद्यपि स्मृति वाक्यसे 'अथ' मङ्गलार्थक मात्र ही सिद्ध होता है, फिर भी भगवान् सूत्रकारने 'अथ' शब्दको मुख्यतः मङ्गलार्थक न कहकर आनन्तर्य वाची कहा है, क्योंकि आनन्तर्यार्थमें प्रयुक्त होनेपर भी यह 'अथ' शब्द श्रवणमात्रसे मङ्गल-रूप अर्थ तो सिद्ध कर ही देता है । जलपूर्ण कलश अथवा शंखध्वनि आदि अपने-अपने अर्थमें प्रयुक्त होनेपर भी जैसे दर्शक अथवा श्रोताको मङ्गलरूप सिद्ध होते हैं । ऐसे ही 'अथ' शब्द भी श्रवणमात्रसे मङ्गल सिद्ध करता हुआ आचार्यके अभिप्रेत आनन्तर्य अर्थको भी स्पष्ट करता है । इसलिए कार्यको अपनी उत्पत्तिमें कारण सामग्रीकी अपेक्षा होती है, **'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं यदभावे यदभावः'** (जिसके होनेपर जिसका अस्तित्व हो और जिसके न होनेपर अभाव हो) वहीं कार्य कारणभाव होता है, अतः यहाँ जिस कारणके होनेपर जिज्ञासारूप कार्य हो और जिस कारणके न होनेपर जिज्ञासारूप कार्य न हो, वही जिज्ञासारूप कार्यके प्रति पूर्व वृत्त होता है अर्थात् असाधारण कारण होता है । यदि यहाँ जिज्ञासा पदके द्वारा उक्त कर्तव्य विचारको फल मानें तो उनके हेतुरूपसे जो पूर्ववृत्त है उसकी अपेक्षा होगी। उसके बलसे प्रकृत हेतुका आक्षेपकर उससे अर्थान्तर कहें तो वह अर्थान्तर आनन्तर्यके ही अन्तर्भूत होता है, क्योंकि हेतु और फलभावके ज्ञानके लिए आनन्तर्य अवश्य मानना चाहिए । अतः यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य ही युक्ति-युक्त है ।

*'अथातो धर्मजिज्ञासा' जैसे यहाँ धर्मकी जिज्ञासा तभी हो सकती है जब वेदाध्ययन किया हो, इसलिए धर्मजिज्ञासा नियमसे अपने पूर्व विद्यमान कारण वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है, वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी नियमतः अपनेसे पूर्व जिस कारणकी अपेक्षा रखती है उसे कहना चाहिए । यदि

बोधानन्तर्यं विशेषः। न; धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। ※यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः; क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च।

स्वाध्याय अध्ययनका आनन्तर्य तो दोनों (धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा) में समान है। यदि कहो कि ब्रह्मजिज्ञासामें धर्मजिज्ञासासे कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अधीत वेदान्त पुरुषको भी धर्मजिज्ञासासे पहले ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है।

और जैसे हृदय आदिके अवदानों (छेदन) में आनन्तर्य क्रमका नियम है, क्योंकि वहाँ क्रम विवक्षित है, वैसे यहाँ (ब्रह्मजिज्ञासामें) क्रम विवक्षित नहीं है। धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें अङ्गाङ्गिभाव अथवा अधिकृताधिकार माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, एवं दोनोंके फल और जिज्ञास्यमें

सत्यानन्दी-दीपिका

स्वाध्यायाध्ययन (पितृ आदि परम्परासे प्राप्त वेद शाखाका अध्ययन) के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा स्वीकार करें तो यह अर्थ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे ही सिद्ध हो जाएगा, फिर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस नूतन सूत्रकी रचना व्यर्थ सिद्ध होगी। इसलिए वेदाध्ययनके आनन्तर्यसे भिन्न आनन्तर्य यहाँ अपेक्षित है। वादीका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी आचार्यकुलमें विधिवत् वेदका अध्ययन करता है और जिज्ञास्य धर्म (यज्ञादि) का केवल ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु वह उनका अनुष्ठान नहीं कर सकता, क्योंकि अनुष्ठेय यज्ञ आदि कर्म गृहस्थ (सपत्नीक) होकर किए जाते हैं, इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा वेदाध्ययनके अनन्तर केवल कर्मका ज्ञान होनेपर होती है। जैसे 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। (बृ० ४।४।२२) (उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मको वेदाध्ययनसे ब्रह्मजिज्ञासु जाननेकी इच्छा करें) यह श्रुति प्रमाण है। अतः धर्मजिज्ञासासे ब्रह्मजिज्ञासामें कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है।

समाधान—कर्मके ज्ञानसे तथा अनुष्ठेय यज्ञादिरूप धर्मकी जिज्ञासासे पूर्व भी वेदान्त-उपनिषद्-का अध्ययन करनेवाले पुरुषको ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। यह कोई नियम नहीं है कि जब कर्मज्ञान तथा धर्मजिज्ञासा हो तभी ब्रह्मजिज्ञासा हो अन्यथा नहीं, इन दोनोंका परस्पर कार्य-कारणभाव भी नहीं है। इसी आशयका 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' अथवा 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' इसके विपरीत यदि वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करे)'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ग्रहण करे) इत्यादि जाबाल श्रुति प्रतिपादन करती है। अतः यह स्पष्ट है कि कर्मज्ञानकी अथवा धर्मजिज्ञासाकी ब्रह्मजिज्ञासामें अपेक्षा नहीं है। 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' (जाबाल) (उत्पन्न हुआ द्विज तीन ऋणवाला होता है) इससे जब तक अनुष्ठेय यज्ञ आदि कर्मकर देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण इन तीन ऋणोंसे मुक्त न हो तब तक ब्रह्मचर्यसे संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। यद्यपि इस श्रुतिवाक्यमें 'जायमानः' इस पदका यथाश्रुत अर्थ ऐसा ही प्रतीत होता है, तो भी टीकाकारोंने इस पदका अर्थ ऐसा किया है कि 'जायमानः' गार्हस्थ्य संपद्यमान अर्थात् विधिवत् भार्याका पाणिग्रहणरूप गार्हस्थ्यको प्राप्त होनेवाला द्विज तीन ऋणवाला होता है। ऐसा अर्थ करनेसे 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इस श्रुतिवाक्यके साथ कोई विरोध नहीं है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासामें कर्मज्ञानके आनन्तर्यकी अपेक्षा नहीं है।

※ वादी अब प्रकारान्तरसे आनन्तर्यका प्रतिपादन करता है कि सूत्रस्थ 'अथ' शब्दका अर्थ क्रम हो। जैसे 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' (तै० सं०) '(प्रथम उस अग्नीषोमीय पशुके हृदयका, अनन्तर जिह्वाका, अनन्तर वक्षःस्थलका छेदन करे)' यह वाक्य अग्नीषोमीय पशुयागमें श्रुत है। यहाँ 'अथ' शब्दसे अवदानका क्रम अभिप्रेत है। अथवा "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही

अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षम् । निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं, न चानुष्ठाना-

भी भेद है। धर्म ज्ञान अभ्युदय फलवाला है तथा वह अनुष्ठानकी अपेक्षा रखता है। ब्रह्मज्ञान तो मोक्षरूप फलवाला है और वह अन्य अनुष्ठानोंकी अपेक्षा नहीं रखता।

सत्यानन्दी-दीपिका

भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् (जाबा० ४) (ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ हो, गृहस्थ होकर पश्चात् वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करे, वानप्रस्थाश्रमी होकर संन्यास ग्रहण करे) जैसे यहाँपर क्रम विवक्षित है, वैसे धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इस प्रकार 'अथ' शब्दका अर्थ क्रम हो सकता है, परन्तु यहाँ धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें क्रमका नियम नहीं है, क्योंकि हृदय आदिका अवदान तो युगपत् एक कर्तासे होना संभव नहीं है, इसलिए उनमें क्रमकी विवक्षा की गई है। 'गृही भूत्वा वनी भवेत्'। अथवा

'अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्'॥ (विधिवत् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंका पालन करता हुआ आचार्य कुलमें विधिवत् वेदोंका अध्ययन कर गार्हस्थ्य होकर धर्मानुसार पुत्रोंकी उत्पत्तिके अनन्तर यथाशक्ति यज्ञों द्वारा देवोंकी प्रसन्नता संपादित कर मन मोक्षमें लगाना चाहिए) 'अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥ यह स्मृति निन्दा करती है। इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें क्रम और अधिकृत अधिकारका विशद वर्णन उपलब्ध होता है। जिसका धर्ममें अधिकार हो उसीका मोक्षमें अधिकार है इसे अधिकृत अधिकार कहा जाता है। परन्तु क्रम अथवा अधिकृत अधिकार तो उस व्यक्तिके लिए है जिसका अन्तःकरण संसारी भोग वासनाओंसे मलिन है। जिसका अन्तःकरण इस जन्म अथवा जन्मान्तर कृत निष्काम यज्ञ आदि कर्म तथा देवोपासना आदिसे शुद्ध है तथा जो विवेक आदि साधन चतुष्टय सम्पन्न है, उसके लिए तो क्रमका 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबा० ४) इत्यादि श्रुति स्वयं खण्डन करती है।

जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' (स्वर्गकी कामनावाला पुरुष दर्श, पूर्णमास याग कर सोम याग करे) यहाँ दर्श, पूर्णमास याग अङ्गी है और जिन प्रयाज आदि क्रियाओंद्वारा वह निष्पन्न होता है वे क्रियाएँ यागके अङ्ग हैं। इसलिए दर्श, पूर्णमास याग अङ्गी-प्रधान हैं और प्रयाज आदि क्रियाएँ उनके अङ्ग-अप्रधान हैं। इस प्रकार दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव है। वैसे इन जिज्ञासाओंमें अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं है, क्योंकि दोनोंमें प्रधान और अप्रधानभाव नहीं है। अधिकृताधिकारसे अभिप्राय यह है कि एक विषयमें अधिकार पानेवाला व्यक्ति अन्य विषयोंमें भी अधिकार सम्पन्न होता है। (क) जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' जो दर्श, पूर्णमास यागमें अधिकृत है उसका ही सोमयागमें अधिकार है अर्थात् जो प्रधान यागमें नियत अधिकृत होता है वही अङ्गों अथवा भिन्न यागमें अधिकारी होता है। (ख) दर्श पूर्णमास यागमें चमससे जल आनयका विधान है, परन्तु यदि पशु कामनावाला हो तो 'गोदोहनेन पशुकामस्य' (पशुकी कामनावाला गोदोहन नामक पात्रसे जल लावे) यहाँ जो पुरुष दर्श पूर्णमास यागमें अधिकृत है उसका गोदोहन पात्रसे जल ले आनेमें अधिकार है। परन्तु प्रकरणमें ऐसा नहीं है। जो धर्मजिज्ञासामें अधिकृत हो यदि वही ब्रह्मजिज्ञासामें भी अधिकारी हो तो अधिकृताधिकार हो सकता है। परन्तु ऐसा यहाँ नहीं है, क्योंकि दोनोंके अधिकारी आदि भिन्न-भिन्न हैं। जैसे अधिकारीके भेदसे अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रका क्रम नहीं है, वैसे यहाँ भी है। किञ्च दोनों जिज्ञासाओंके फल और विषयमें भी भेद है, यथा-धर्मज्ञानका फल अभ्युदय है और ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष है, इससे दोनों प्रकारके क्रम नहीं हैं, अतः 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक है।

न्तरापेक्षम्। * भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात्किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत

धर्मजिज्ञासाका विषय धर्म भव्य (साध्य) है और ज्ञानकालमें नहीं है, क्योंकि वह पुरुष व्यापारके अधीन है। यहाँ-ब्रह्ममीमांसामें तो सिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है, वह नित्य होनेसे पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है। किञ्च बोधक प्रमाणकी प्रवृत्तिके भेदसे भी जिज्ञास्य-भेद है। जो विधि धर्मका लक्षण (ज्ञापक) है वह पुरुषको स्वविषयमें नियुक्त करती हुई बोध कराती है। ब्रह्मबोधक प्रमाण तो पुरुषको केवल बोध ही कराता है, अवबोध ब्रह्मप्रमाणसे जन्य है। इसलिए ब्रह्मप्रमाण (अयमात्मा ब्रह्म) पुरुषको ज्ञानमें नियुक्त नहीं करता। जैसे इन्द्रिय विषयके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञानमें नियुक्ति नहीं होती। इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है ऐसा कोई असाधारण हेतु कहना चाहिए। कहते हैं—नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक, इस लोक तथा

सत्यानन्दी-दीपिका

* यदि धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासामें क्रमरूप आनन्तर्य नहीं है, तो कर्म और ज्ञान दोनोंसे ही मोक्ष मानना चाहिए, क्योंकि हमारे (समुच्चय वादियोंके) मतमें ज्ञान कर्म समुच्चयसे मोक्ष प्राप्ति मानी जाती है। परन्तु यह समुच्चयवाद भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि धर्म और ब्रह्मज्ञानका स्वरूप, फल और हेतु भिन्न-भिन्न हैं। धर्मजिज्ञासाका विषय धर्म है, वह जन्य होनेसे अनित्य है और ज्ञानकालमें नहीं है अर्थात् स्वोत्पत्तिके पूर्व प्रत्येक कर्मका पहले ज्ञान होता है, पश्चात् उसके सम्पादन करनेकी इच्छा, अनन्तर पुरुष प्रयत्नसे उसकी निष्पत्ति होती है, इससे धर्म साध्य है। परन्तु ब्रह्म तो नित्य सिद्ध वस्तु है, अतः वह पुरुषकी किसी भी क्रियासे उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पहले यह सब एक अद्वितीय ब्रह्म ही था) 'एष महानज आत्मा' (यह आत्मा महान् अज है) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (भ० गी० २।२०) यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है) इत्यादि श्रुति-स्मृति भी ब्रह्मको नित्य सिद्ध कहती हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म नित्य सिद्ध और धर्म नित्य साध्य है। इस प्रकार अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे दोनोंका स्वरूप भिन्न भिन्न है। अब 'चोदना' आदि भाष्यसे धर्म और ब्रह्ममें प्रमाणसे भी भेद दिखलाया जाता है—'अज्ञातज्ञापकं वाक्यमत्र चोदना' 'अज्ञात वस्तुका ज्ञापक (लोट, लेट, लिङ् आदि युक्त) वेदवाक्य अथवा शब्द यहाँ चोदना कहा जाता है' इन चोदनाओंके भेदसे भी जिज्ञास्य धर्म और ब्रह्ममें भेद है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' यह विधिवाक्य अपने विषय धर्मके साधन भूत याग आदिमें प्रवृत्त करता हुआ ज्ञान कराता है और 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) (यह प्रयगात्मा ब्रह्म है) इत्यादि ब्रह्मचोदना 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ' इस प्रकार उत्पन्न ज्ञानमें नियुक्त नहीं करती केवल स्वरूपभूत ब्रह्मका अभेद ज्ञान कराती है जो संसारके बीजभूत अनादि अविद्यासे आवृत्त-सा है।

धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें जब 'अथ' शब्दका अर्थ क्रम नहीं है, तो अन्ततोगत्वा 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य ही सिद्ध होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मजिज्ञासा किसके अनन्तर कर्तव्य है ? क्योंकि अनन्तर शब्द अपनेसे पूर्वकी निश्चित अपेक्षा करता है।

इति। *उच्यते–नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। * अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो० ८।१।६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्ति०२।१) इत्यादिः।

परलोकस्थ विषय भोगोंसे विराग, शम-दम आदि साधन सम्पत्ति और मुमुक्षुता (मोक्षकी इच्छा)। उन साधनोंके होनेपर ही धर्मजिज्ञासासे पूर्व तथा पश्चात् भी ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिये 'अथ' शब्दसे पूर्वोक्त साधन सम्पत्तिके आनन्तर्यका उपदेश किया जाता है। अतः शब्द हेतु अर्थक है। 'तद्यथेह०' (जैसे यहाँ कर्मोंसे उपार्जित अन्न आदि भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही परलोकमें पुण्य कर्मोंसे सम्पादित स्वर्ग आदि भोग भी नष्ट हो जाते हैं) इत्यादि श्रुति ही श्रेयके साधनभूत अग्निहोत्र आदिका अनित्य फल दिखलाती है। इसी प्रकार 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति' (बृह० ४।४।२३) (अतः इसप्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें (विशुद्ध अन्तःकरणमें) ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है) इत्यादि श्रुति भी ब्रह्मजिज्ञासाके लिए साधन चतुष्टयसम्पन्न अधिकारीका प्रतिपादन करती है। 'तद्विजिज्ञासस्व' 'उसके जानने की इच्छा कर' क्योंकि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (मोक्ष केवल ज्ञानसे ही होता है) अतः ब्रह्मजिज्ञासा धर्मजिज्ञासासे पूर्व तथा पश्चात् भी संभव है। इसलिए साधन चतुष्टयके होनेपर ही ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान दोनोंके प्रति साधन चतुष्टय असाधारण कारण है। साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञानमें अधिकारी है। परन्तु सर्वप्रथम तो साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारीका ही अभाव है? क्योंकि उन साधनोंमें से वैराग्यका संभव नहीं है। यद्यपि क्षणिक ऐहिक विषय सुखसे वैराग्यका संभव है, तो भी 'अपाम सोमममृता अभूम' (यागमें सोम पानकर हम अमर होते हैं)।

स्वर्गलोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ (कठ० १।१२)

(हे मृत्युदेव! स्वर्ग लोकमें रोग आदि जन्य किञ्चिद् भी भय नहीं है, वहाँ आपका भी वश नहीं चलता, वहाँ कोई वृद्धावस्थासे भयभीत नहीं होता अर्थात् वहाँ वृद्धावस्था नहीं होती, स्वर्गलोकमें पुरुष भूख और प्यासका अतिक्रमणकर शोक रहित होकर आनन्दित होता है) इत्यादि श्रुति स्वर्गमें दुःखाभावका प्रतिपादन करती है। अतएव निरन्तर सुख होने तथा दुःखका अभाव होनेसे स्वर्गस्थ व्यक्तिको कदापि वैराग्य नहीं हो सकता। वैराग्यका अभाव होनेसे शेष साधनोंका अभाव तो स्वभाव-सिद्ध है, अतः इस ग्रन्थका आरम्भ व्यर्थ है। इसप्रकारकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए भगवान् सूत्रकारने सूत्रमें 'अतः' शब्दका प्रयोग किया है।

* वादीने पहले जो यह कहा था कि अग्निहोत्र आदि कर्मोंसे सम्पादित स्वर्ग आदि फल नित्य है, अतः उसे प्राप्तकर साधक कदापि वैराग्यशील नहीं हो सकता, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' तथा ''आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (भ० गी० ८।१६)

तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। * ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अत एव न 'ब्रह्म' शब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। * ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते,

(ब्रह्मज्ञानी मोक्षस्वरूप पर ब्रह्मको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति वाक्य ब्रह्मज्ञानसे ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) को दिखलाता है। इसलिए यथोक्त साधन सम्पत्तिके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। ब्रह्मकी जिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा है। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें वक्ष्यमाण लक्षणवाला ब्रह्म है। अतएव ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि 'ब्रह्म' शब्दका जाति आदि अन्य अर्थ है। 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है शेषमें नहीं, क्योंकि जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है और यहाँ (ब्रह्मके सिवा) अन्य

सत्यानन्दी-दीपिका

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥" (गी० ९।२१)
(हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ति स्वभाववाले हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुति, स्मृति वाक्य पुण्य कर्मोंसे संपादित स्वर्ग आदि फलको अनित्य कहते हैं। और 'यत्कृतकं तदनित्यम्' (जो जन्य है वह अनित्य है) यह व्याप्ति भी है। 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि श्रुतिमें जो स्वर्ग आदि लोकोंका अमृतत्व प्रतिपादित है, उसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी आदि लोकोंकी अपेक्षा स्वर्ग आदि लोक अधिक काल स्थायी हैं, अतः उनमें अपेक्षाकृत अमृतत्व है स्वरूपसे नहीं। किञ्च 'आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' (विष्णुपुराण) (प्रलयपर्यन्त स्थायी ये स्वर्ग आदि लोक अमृत शब्दसे कहे जाते हैं) परन्तु वास्तवमें 'अतोऽन्यदार्तम्' (ब्रह्मसे भिन्न सब दुःखरूप मिथ्या है) इससे स्वर्ग आदि लोकस्थ भोग्य पदार्थोंसे भी विवेकीको अवश्य वैराग्य होता है। इस प्रकार साधन संपत्ति सिद्ध होनेपर अधिकारी भी सिद्ध है, उसके सिद्ध होनेसे उसके द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए यह सिद्ध हुआ। इस तरह इस ग्रन्थके आरम्भ करनेमें विप्रतिपत्तिको कोई स्थान नहीं है।

* शंका—'धर्माय जिज्ञासा' धर्मजिज्ञासा अर्थात् धर्मके लिए जिज्ञासा, क्या इसके समान 'ब्रह्मजिज्ञासा' इस समस्त पदमें भी 'ब्रह्मणे जिज्ञासा' ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मके लिए जिज्ञासा इस प्रकार चतुर्थी तत्पुरुष समास है? समाधान—'जिज्ञासा' पद 'ज्ञा' धातुसे इच्छा अर्थमें 'सन्' प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है, इच्छाकी उत्पत्ति ज्ञानसे होती है। ज्ञान ज्ञेयके विना नहीं होता, एवं जिज्ञासा भी ज्ञानके विना नहीं होती। इसलिए इच्छा पहले अपने ज्ञानरूप कर्मकी अपेक्षा करती है पश्चात् फलकी। ज्ञानका कर्म ज्ञेय ब्रह्म है। इससे प्रथम इच्छाके कर्मरूप ज्ञानके लिए 'ब्रह्मणो-जिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्मकी जिज्ञासा' यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास ही युक्त है। यह षष्ठी विभक्ति कर्म अर्थमें है अन्य अर्थमें नहीं, क्योंकि कर्मका ग्रहण होनेपर फल भी अपने आप अर्थतः सिद्ध हो जाता है। इच्छाका जो कर्म है वही फल है। धर्मजिज्ञासामें स्वर्ग आदि फलको मुख्य रखकर चतुर्थी तत्पुरुष समास किया गया है, परन्तु प्रकृतमें ऐसा नहीं है। यद्यपि 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' (ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करनी चाहिए) 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (जो ब्रह्माको प्रथम उत्पन्न करता अथवा धारण करता है) 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (कर्म ब्रह्म-वेदसे उत्पन्न हुआ जानो) 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है) इस प्रकार ब्रह्म शब्द ब्राह्मणत्व जाति, ब्रह्मा, वेद, परमात्मा आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता देख सन्देह होता है, तथापि प्रकृत ब्रह्म शब्द परमात्माका ही बोधक है अन्यका नहीं। जिस ब्रह्मविषयक जिज्ञासाका उल्लेख किया गया है उस ब्रह्मका लक्षण अग्रिम सूत्र २ में कहा जायगा। यहाँ जिज्ञासाका जिज्ञास्य (विषय) केवल ब्रह्म ही है।

सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। * न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि। यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। * श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' (तैत्ति० ३।१) इति प्रत्यक्षमेव

जिज्ञास्यका निर्देश नहीं है। यदि कहो कि शेषमें षष्ठीके स्वीकार करनेपर भी ब्रह्ममें जिज्ञासा-कर्मत्व विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध सामान्य विशेषमें भी रहता है। इसप्रकार भी ब्रह्ममें प्रत्यक्ष कर्मत्वको छोड़कर सामान्य-सम्बन्ध द्वारा परोक्ष कर्मत्वकी कल्पना करनेवाले तुमको व्यर्थ ही प्रयास होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके आश्रित सब पदार्थोंके विचारकी प्रतिज्ञाके लिए है? तो यह युक्त नहीं है, कारण कि प्रधानका परिग्रहण होनेपर तदपेक्षित सब पदार्थोंका अर्थतः आक्षेप (ग्रहण) हो जाता है। ब्रह्म ही ज्ञानसे प्राप्त करनेके लिए इष्टतम होनेसे प्रधान है। जिज्ञासाके कर्म उस प्रधानका परिग्रह होनेपर जिन जिज्ञासितोंके विना ब्रह्म जिज्ञासित नहीं होता वे तो अर्थतः आक्षिप्त (ग्रहण) किये जाते हैं, अतः उनको पृथक् सूत्रित नहीं करना चाहिए अर्थात् सूत्रमें उनके पृथक् ग्रहणकी अपेक्षा नहीं है। जैसे कि 'यह राजा जाता है' ऐसा कहनेसे सपरिवार राजाके गमनका कथन हो जाता है, वैसे ही। और श्रुतिके अनुगमसे भी कर्ममें षष्ठी है, 'यतो वा०' (जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व' (उसकी जिज्ञासा कर

सत्यानन्दी-दीपिका

* यद्यपि यह हो सकता है कि वेदान्तवाक्य जिज्ञासाके कर्म हों, ब्रह्म और जिज्ञासाका शेषशेषिभाव सम्बन्ध हो, तथापि इच्छाके कर्मरूपसे श्रुत ब्रह्मको छोड़कर अश्रुतकी कल्पना करना 'करस्थं पायसं त्यक्त्वा कूर्परं लेढि मूढधीः (मूर्खका हाथपर रखी खीरको छोड़कर कुहनीके चाटनेके समान होगा) निष्कर्ष यह है कि कर्ममें षष्ठी स्वीकार करनेपर सूत्रद्वारा जिज्ञासाका ब्रह्म ही श्रुत कर्म है। शंका—'षष्ठी शेषे' (पा० सू० २।३।५०) इस व्याकरण सूत्रके अनुसार सम्बन्ध सामान्य प्रतीत होता है। सामान्य सम्बन्धके ज्ञात होनेपर विशेष सम्बन्धकी आकांक्षा होती है? समाधान—इस प्रकारसे कर्मका लाभ होनेपर भी प्रत्यक्षतः 'कर्तृकर्मणोःकृति' (पा० सू० २।३५) (कृदन्तके योगमें कर्तृवाचक और कर्मवाचक पदसे षष्ठी विभक्ति होती है) इस सूत्रके अनुसार ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, इस पदसे कृदन्त 'तुमुन्' प्रत्यय प्रथम प्रत्यक्ष कर्मका ज्ञान कराता है। इसलिए ब्रह्ममें प्रत्यक्ष कर्मको छोड़कर 'षष्ठी शेषे' इस सूत्रसे अश्रुत कर्मकी कल्पना करना व्यर्थ प्रयास मात्र ही तो है। शेषमें षष्ठी माननेवाले पूर्वपक्षीके अभिप्रायको 'न व्यर्थः' इत्यादिसे अभिव्यक्त करते हैं।

* पूर्वपक्षी—'षष्ठी शेषे' इस व्याकरण सूत्रके अनुसार शेषमें षष्ठी माननेसे 'ब्रह्मणो जिज्ञासा' इसका 'ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा' ऐसा अर्थ सिद्ध होगा, इससे ब्रह्म और ब्रह्म सम्बन्धी लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान, साधन और फल इन सबके विचारकी भी प्रतिज्ञा हो जाएगी, क्योंकि इनकी जिज्ञासासे ही ब्रह्मज्ञान होता है। कर्ममें षष्ठी माननेसे जिज्ञासाके कर्मभूत ब्रह्मका ही केवल विचार होता है, ब्रह्मसम्बन्धी लक्षण आदिका नहीं, इस आशयसे यहाँ 'शेषमें षष्ठी' का ग्रहण किया गया है, अतः तत्सम्बन्धी प्रयास व्यर्थ नहीं है। सिद्धान्ती 'न' इत्यादिसे इसका समाधान करते हैं, 'तद्विजिज्ञासस्व'

ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद्-ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। ※ ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्माव-गतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासि-

वह ब्रह्म है) इस वाक्यके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे ब्रह्मको ही जिज्ञासाका कर्म दिखलाती हैं। वह कर्ममें षष्ठी माननेसे ही सूत्रसे अनुगत होता है अर्थात् सूत्रके साथ श्रुतिकी एकवाक्यता होती है, इसलिए 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है। जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान सन् प्रत्ययवाच्य इच्छाका कर्म है, क्योंकि इच्छा फल विषयक होती है। ब्रह्म ज्ञानरूप प्रमाणसे जाननेके योग्य है। ब्रह्मका साक्षात्कार ही पुरुषार्थ है, क्योंकि उससे निःशेष संसारके बीजभूत अविद्या आदि अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। वह ब्रह्म प्रसिद्ध है

सत्यानन्दी-दीपिका

(उस-ब्रह्मकी जिज्ञासा कर) यह श्रुति वाक्य भी ब्रह्मजिज्ञासाका ही प्रतिपादन करता है। सारांश यह है कि 'कर्ममें षष्ठी' माननेसे श्रुति और सूत्रकी एकवाक्यता भी होती है।

※ 'श्रुत्यनुगमाच्च' यह संग्रह वाक्य है। 'विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः। निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥' (सूत्र तथा भाष्यमें विस्तारसे उपदिष्ट अर्थोंका जो संक्षेपसे निबन्ध उसे विद्वान् लोग संग्रहरूपसे जानते हैं अर्थात् उसे संग्रहवाक्य कहते हैं) यह संग्रहवाक्यका लक्षण है। भगवान् भाष्यकार इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके साथ 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्यकी एकवाक्यता--एकार्थप्रतिपादकता है अर्थात् ब्रह्म ही जिज्ञासाका कर्म है। इसप्रकार दोनोंका एक ही अर्थ है। परन्तु श्रुति और सूत्रका यह अर्थ तभी सिद्ध हो सकता है जब कर्ममें षष्ठी स्वीकार की जाय, अतः उक्तार्थकी सिद्धिके लिए 'ब्रह्मणः जिज्ञासा' यह कर्ममें षष्ठी है।

※ यद्यपि अन्तःकरणका वृत्त्यात्मक ज्ञान इच्छाका कारण है, क्योंकि 'जानाति इच्छति ततो यतते' पहले किसी वस्तुका ज्ञान होता है, अनन्तर उसके पानेकी इच्छा, तदनन्तर उस वस्तुकी प्राप्तिके लिए यत्न, इसप्रकार ज्ञान इच्छाका कारण है, तथापि 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप हूँ' ऐसी अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्ति अनावृत प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारमें हेतु है, अतः ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त वृत्त्यात्मक ज्ञान इच्छाका कर्म है। क्योंकि जिज्ञासाके विना वेदान्त-वाक्योंके श्रवण आदिसे यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उक्त ज्ञान इच्छाका कर्म है और आवरण रहित ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति ही फल है, वही मोक्ष है। इस तरह आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान सन् प्रत्यय वाच्य इच्छाका कर्म है। इसी ज्ञानको विद्या शब्दसे कहा जाता है। उससे 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्म-स्वरूप नहीं हूँ' इस अज्ञान तथा उसके कार्य भूत अनर्थमय संसारकी भी निवृत्ति हो जाती है, परन्तु रज्जुमें कल्पित सर्प आदिकी रज्जुके ज्ञानसे जैसे अत्यन्त निवृत्ति होती है, वैसे यहाँ संसारकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती, अपितु बाधितानुवृत्तिरूप निवृत्ति होती है अर्थात् जैसे अज्ञानावस्थामें यह जगत् सत्य प्रतीत होता है, वैसे ज्ञानावस्थामें प्रतीत नहीं होता प्रत्युत मिथ्या प्रतीत होता है, अतः अनर्थमय जगत्की निवृत्तिके लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इस प्रकार 'अथ' तथा 'अतः' शब्दसे साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधिकारीके लिए ब्रह्म जिज्ञासितव्य है। इति तृतीय वर्णक।

तव्यम् । ❀ तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम् । अथाऽप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति । * उच्यते-अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्; ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म । * यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति,

---

अथवा अप्रसिद्ध ? यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं होनी चाहिए, यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा ही नहीं हो सकती । इसपर कहते हैं—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म तो प्रसिद्ध है । 'बृह' धातुके अर्थके अनुगमहोनेसे व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्म शब्दसे नित्यत्व शुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं और सबका आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है । आत्माके अस्तित्वका अनुभव सबको होता है । 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं होता । यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो सब लोग 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव करते । आत्मा ही ब्रह्म है।

सत्यानन्दी-दीपिका

❀ ब्रह्मज्ञानके प्रति साधनरूपसे इस ग्रन्थका आरम्भ युक्त नहीं है, क्योंकि जो ब्रह्म जिज्ञास्य कहा जाता है, क्या वह वेदान्त विचारसे पूर्व ज्ञात है अथवा अज्ञात ? यदि ज्ञात है तो शास्त्रसे अप्रतिपाद्य होनेके कारण इस ग्रन्थका विषय नहीं हो सकेगा । किञ्च ब्रह्मके अज्ञानका अभाव होनेसे अज्ञानकी निवृत्तिरूप फल भी नहीं हो सकेगा, तब शास्त्रका विचार करना अयुक्त है । यदि अज्ञात है, तो उसके विषयमें कोई भी विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञात पदार्थ विचारका विषय नहीं होता । बुद्धि-विचारके क्षेत्रमें न आ सकनेवाले पदार्थका विचारात्मक शास्त्रसे अथवा वेदान्तसे प्रतिपादन नहीं हो सकता । विषय और शास्त्रका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव न होनेसे ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता, ज्ञानके न होनेसे अज्ञानकी निवृत्तिरूप फल भी नहीं हो सकेगा । इस प्रकार प्रयोजन आदिका अभाव होनेके कारण यह शास्त्र आरम्भणीय नहीं है अथवा ब्रह्म जिज्ञासितव्य नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षीका आशय है । इस शंकाका 'उच्यते' इत्यादिसे समाधान करते हैं ।

* भाष्यमें नित्य शुद्ध आदि शब्दोंसे उपाधि रहित निर्गुण ब्रह्मका तथा सर्वज्ञ आदि शब्दोंसे सोपाधिक सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको व्यापक कहती हैं। तथा 'बृहि वृद्धौ' इसप्रकार व्याकरणके अनुसार निरतिशयमहत्त्व अर्थमें 'बृहि' धातुसे ब्रह्म शब्द निष्पन्न हुआ है और 'बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते'(भामती) (वृद्धिका कारण और बृहत् होनेसे आत्मा ही ब्रह्म कहा जाता है) इस व्युत्पत्तिसे भी ब्रह्म शब्दका अर्थ व्यापक है । इससे देश, काल तथा वस्तु परिच्छेद-इयता से रहित ब्रह्म नित्य सिद्ध है । इस तरह 'तत्त्वमसि' इस वाक्यस्थ 'तत्' पदसे ब्रह्मका सामान्यरूप ज्ञात होनेपर भी उसके विशेषरूपकी जिज्ञासा होती है, प्रत्येक वस्तुका सामान्य ज्ञान ही उसके विशेष ज्ञानके प्रति हेतु माना गया है । किञ्च 'त्वम्' पदार्थ—आत्मासे भी ब्रह्म प्रसिद्ध है। जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म', अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए । यह सब 'सर्वस्य' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं । 'सर्वं शून्यं शून्यम्' (सब शून्य ही है) शून्यवादी बौद्धके अनुसार शून्यके अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व अप्रसिद्ध है, शून्य ही आत्मा है । शून्यका अर्थ है अस्तित्व रहित अर्थात् कुछ नहीं। यदि आत्मा शून्य है तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ही सब लोगोंको ज्ञान हो, परन्तु इसके विपरीत नव जात शिशुसे लेकर वृद्ध पर्यन्त सबको 'मैं हूँ' ऐसा निर्बाध ज्ञान होता है । इसलिए आत्माका अस्तित्व सर्वलोक

ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे।

यदि लोकमें ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है तो वह ज्ञात ही है, इस प्रकार पुनः ब्रह्ममें अजिज्ञास्यत्व प्राप्त हुआ ? ऐसी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उसके विशेष ज्ञानमें विप्रतिपत्ति (विवाद) है। जैसे कि चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृत जन तथा लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं। परन्तु दूसरे चेतन इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं। और कुछ मनको ही आत्मा मानते हैं। कोई क्षणिक

सत्यानन्दी-दीपिका

प्रसिद्ध है। 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यश्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति भाष्यते'' ॥ (लिङ्ग० पु० १।७०।९६) 'आप्लृ व्याप्तौ' (इस धातु अर्थके अनुसार यह सबको व्याप्त करता है। सबका अपनेमें संहार करता है, स्वचैतन्यावभाससे सब विषयोंका उपलब्धा है, कल्पित पदार्थोंका अधिष्ठान होकर निरन्तर सत्ता स्फूर्ति प्रदान करता है, इसलिए इसे आत्मा कहते हैं)। इत्यादि श्रुति, स्मृति वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि आत्मा ही ब्रह्म है।

'शंका—'मैं हूँ' इस प्रकार जब आत्मरूपसे ब्रह्म सर्वलोक प्रसिद्ध है, तो आत्माके ज्ञात होनेपर ब्रह्म भी स्वभावत: ज्ञात हुआ। इस तरह ब्रह्म ज्ञात होनेपर जिज्ञासाका विषय नहीं हो सकता। अज्ञात वस्तु ही जिज्ञासाका विषय होती है। अज्ञात ब्रह्म ग्रन्थका विषय है, वेदान्त-वाक्योंके विचारसे ज्ञात होनेपर वह प्रयोजन है। यह ठीक है, परन्तु प्रसङ्गमें तो इसके विपरीत आत्मरूपसे ब्रह्म सदा सबको ज्ञात है, अतः वह जिज्ञास्य न होनेके कारण ग्रन्थसे प्रतिपाद्य भी नहीं होगा, इससे उसका ज्ञान भी नहीं होगा, उसके न होनेसे ज्ञान निवर्त्त्य अज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रयोजन भी सिद्ध न होगा। इस प्रकार विषय और प्रयोजनका अभाव होनेपर यह ग्रन्थ आरभणीय नहीं है। सि०—समाधान—'मैं हूँ' आत्माके इस सत् चैतन्यरूप सामान्य धर्मसे यद्यपि ब्रह्म ज्ञात है, तो भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि विशेष धर्मोंसे ब्रह्म ज्ञात नहीं है। यदि ब्रह्म विशेषरूपसे ज्ञात होता तो वादियोंका आत्मविषयक परस्पर मतभेद नहीं होता ? उनकी विप्रतिपत्तिसे यह सिद्ध होता है कि आत्माके सामान्यरूपसे ब्रह्म ज्ञात होनेपर भी विशेषरूपसे अज्ञात है। यद्यपि ब्रह्ममें सामान्य और विशेष दोनों रूप कल्पित हैं, तथापि यह सब जिज्ञासुओंको समझानेके लिए कहा गया है। ब्रह्म विशेषरूपसे अज्ञात होनेपर 'देहमात्रम्' इत्यादि भाष्यसे स्थूल और सूक्ष्म क्रमसे वादियोंका मतभेद दिखलाया जाता है। शास्त्र विचार रहित जन प्राकृत कहे जाते हैं। इनके मतमें स्वतन्त्र अथवा अस्वतन्त्ररूपसे चैतन्य नहीं है, किन्तु पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतोंकी देहाकारमें परिणिति ही चैतन्य है। इस विषयमें इन्हीं लोगोंकी यह ''अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्यनलानिलाः। चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते'' ॥ उक्ति भी है। 'मैं मनुष्य हूँ' तथा 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं' (कठ० ३।४) 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० आ० २।१।१) (यह पुरुष अन्नरसमय है) इस प्रकार देहके आत्मत्वमें लोक प्रतीति और श्रुति प्रमाण भी है, यह देहात्मवादियोंका मत है। वे केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं, क्योंकि इनके मतमें अतीन्द्रिय कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए इन्हें अनुमान आदि प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। मरणको ही वे अपवर्ग कहते हैं। 'इन्द्रियाण्येव' इत्यादि भाष्यसे इन्द्रिय आत्मवादी मतका उल्लेख है—जाग्रत् अवस्थामें रूप आदिका ज्ञान नेत्र आदि इन्द्रियोंसे होता है, अन्धादिको रूपादिका ज्ञान नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानका आश्रय इन्द्रियां हैं देह नहीं, देह तो केवल नेत्र आदि इन्द्रियोंका आधारभूत व जड़ है चैतन्य नहीं। सुषुप्तिमें सर्वलोक प्रसिद्ध इस स्थूल शरीरके विद्यमान

मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्व-

विज्ञान मात्र (बुद्धि) को ही आत्मा कहते हैं। किन्हींके मतमें शून्य आत्मा है। अन्य कहते हैं कि देह आदिसे भिन्न संसारी कर्ता भोक्ता आत्मा है। कोई ऐसा मानते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता है कर्ता नहीं। कोई कहते हैं कि जीवसे भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्ति सम्पन्न है। वह ईश्वर भोक्ता

सत्यानन्दी-दीपिका

और इन्द्रियोंके अविद्यमान होनेसे ज्ञान नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेकसे भी ज्ञानका आश्रय इन्द्रियाँ ही हैं। 'पश्यामि, शृणोमि, जिघ्रामि' (देखता हूँ, सुनता हूँ, सूँघता हूँ) इत्यादि प्रत्यक्ष लौकिक प्रतीतिसे तथा इन्द्रिय संवादमें 'ते ह वाचमुचुः' (बृह० १।३।२) (उन चक्षु आदिने वाणीसे कहा) इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

'मन इत्यन्ये' इस भाष्यसे मनको आत्मा माननेवालोंका मत दिखाया गया है। यदि इन्द्रियाँ आत्मा हों तो स्वप्नमें नेत्र आदि इन्द्रियोंके न होनेसे किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होना चाहिए, किन्तु 'जानामि' इत्यादि ज्ञान तो वहाँ भी सर्वानुभव सिद्ध है, वह ज्ञान मनसे होता है। जाग्रत्में भी ज्ञान मनसे होता है, इन्द्रियाँ तो केवल साधन मात्र हैं। यदि इन्द्रियोंको आत्मा मानें तो सब इन्द्रियोंके आत्मा होनेसे कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उन सबका ऐकमत्य होना सम्भव नहीं है। यदि उनका कोई एक नियामक मानें तो वही आत्मा होगा तब उनमें आत्मत्व प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी। इसलिए 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीति तथा 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' (तै० ६।३) (प्राणमयके भीतर और उससे भिन्न आत्मा मनोमय है) इत्यदि श्रुति प्रमाणसे भी मन ही आत्मा सिद्ध होता है।

'विज्ञानमात्रं क्षणिकम्' इस भाष्यसे क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार मतका उल्लेख है। विज्ञान-वादी– बुद्धि मनको जानती है, अतः बुद्धि ही आत्मा है मन नहीं। बुद्धिसे भिन्न बाह्य कोई भी पदार्थ नहीं है, मन भी बुद्धिका ही आकार (परिणाम) विशेष है। बुद्धि (विज्ञान) अपने उत्पत्ति क्षणसे द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाती है, अतः क्षणिक कही जाती है। इस विषयमें 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २।४) (मनसे आन्तर और भिन्न आत्मा विज्ञानमय है) इत्यादि श्रुति प्रमाण भी है। 'शून्यमित्यपरे' इस भाष्यसे शून्यवादी माध्यमिक मतका उल्लेख है-- क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्तिमें वस्तुतः विज्ञानका भी अभाव है अर्थात् आन्तर बाह्य शून्य है, अकस्मात् 'अहं प्रत्यय' उदय होता है और वह असत्को विषय करता है। इस प्रत्यक्ष प्रतीतिसे तथा 'असदेवेमदग्र आसीत् असतः सज्जायत' (छां० ६।२।१) (आरम्भमें यह एक मात्र अद्वितीय असत् ही था, असत्से सत्की उत्पत्ति हुई) इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि शून्य ही आत्मा है। 'अस्ति' इत्यादि भाष्यसे नैयायिक आदिका मत दिखाया गया है। जब 'अस्त्यात्मा' (आत्मा है) 'अहमस्मि' (मैं हूँ) 'अहं जानामि' (मैं जानता हूँ) इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतिसे तथा 'मन्ता बोद्धा कर्ता' (प्रश्न ४।९) इत्यादि श्रुतिसे कर्ता, भोक्ता आत्मा उपलब्ध होता है तो 'शून्य आत्मा है' यह शून्यवादीका कथन केवल उपहास मात्र है। 'भोक्तैव केवलम्' इस भाष्यसे सांख्य मतका उल्लेख है। सांख्य—'मैं कर्ता हूँ' इस प्रतीतिसे आत्मामें कर्तृत्व मानना युक्त नहीं है, क्योंकि यह प्रतीति अहंकारमें कर्तृत्वको विषय करती है, कारण कि 'असङ्गो नहि सज्जते' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। किञ्च 'मै सुखी, मैं दुःखी' इस प्रत्यक्ष प्रतीतिसे तथा 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य' (श्वेता० ४।६) (ईश्वर और जीव इन दोनोंमेंसे अन्य (जीव) कर्मफल भोक्ता है) आदि श्रुतिसे भी सिद्ध होता है

शक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥१॥

(जीव) का आत्मा (स्वरूप) है कोई ऐसा मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य तथा उनके आभासोंका आश्रयकर अनेक मतभेद हैं। उन सबका वास्तविक विचार किए विना जिस किसी मतको प्राप्त करनेवाला मोक्षसे वञ्चित रहेगा और साथ ही अनर्थको प्राप्त होगा। इसलिए ब्रह्म जिज्ञासाके कथनद्वारा जिसमें अविरोधी तर्क साधनरूप हैं ऐसी मोक्ष प्रयोजनवाली वेदान्तवाक्योंकी मीमांसा प्रस्तुतकी जाती है ॥१॥

सत्यानन्दी-दीपिका

कि आत्मा केवल भोक्ता है। इस प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, क्षणिकविज्ञान, शून्य, कर्ता भोक्ता, केवल भोक्ता आदि 'त्वम्' पद वाच्य आत्मामें वादियोंका संक्षेपसे मतभेद दिखलाया गया है। अब 'तत्' पद वाच्य ईश्वरमें भी 'अस्ति तद्व्यतिरिक्तः' इत्यादि भाष्यसे मतभेद दिखलाते हैं। वेद प्रामाण्यको माननेवाले मीमांसक आदि कई लोग 'तत्' पद वाच्य ईश्वरको नहीं मानते, अतः उनके मतमें ईश्वर विषयक चर्चाका अवकाश ही नहीं है। परन्तु ईश्वरवादी मतको लेकर यह विप्रतिपत्ति दिखाई जाती है। उपर्युक्त विवेचनसे जो देह आदिसे भिन्न कर्ता, भोक्ता आदि रूप जीव सिद्ध हुआ है, वह ईश्वरसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? इस विषयमें योग मतवाले 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुति और 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू० १।४) (अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभ आदि कर्म, जन्म, आयु और भोगरूप फल और उनसे उत्पन्न वासनाओंसे असम्बन्धित पुरुष विशेष ईश्वर है) इस सूत्रके आधारपर सर्वज्ञ, सर्ववित्, शर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर 'तत्' पद वाच्य है और वह जीवसे भिन्न है।

परन्तु लक्षणावृत्तिसे वेदान्तमतावलम्बी तो अविद्या उपाधि विशिष्ट 'त्वम्' पदवाच्य कर्ता, भोक्ता जीवात्माको 'तत्' पदवाच्य ईश्वर स्वरूप सिद्ध करते हैं, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवाक्य जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है अपितु तत्स्वरूप ही है ऐसा कहते हैं। इसमें 'जीवो ब्रह्मैव आत्मत्वात् ब्रह्मवत्' आत्मा होनेसे जीव ब्रह्म ही है जैसे ब्रह्म, इत्यादि युक्ति भी है। शेष मत तो युक्त्याभास और वाक्याभासोंका अवलम्बन कर केवल विवाद करते हैं। जो युक्ति न होकर युक्तिके सदृश तथा प्रमाण न होकर प्रमाणके सदृश प्रतीत हों वे युक्त्याभास तथा प्रमाणाभास कहे जाते हैं। 'देहोऽनात्मा भवितुमर्हति ज्ञेयत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात् घटादिवत्' देह अनात्मा होने योग्य है, क्योंकि ज्ञेय, जड़ और परिच्छिन्न है जैसे घट आदि, इत्यादि युक्तियों तथा 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यादि सूत्रोंसे अन्योंके मत किस प्रकार युक्त्याभास और प्रमाणाभासरूप हैं यह सब आगे दिखलाया जायगा। शंका—वादियों द्वारा एकवस्तु विषयक मतभेद दिखलाए जानेपर तो सन्देह होगा अथवा जिसकी जिस मतमें श्रद्धा होगी उसका अवलम्बनकर वह अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेगा, तो पुनः ब्रह्मविषयक विचार करनेका क्या प्रयोजन ? समाधान—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'तत्त्वज्ञानादेव निःश्रेयसमधिगमः' (जीव ब्रह्मैक्य ज्ञानसे ही मोक्ष होता है) यह वेदोंका सारभूत सिद्धान्त है। यदि इस श्रुति सम्मत सिद्धान्तको छोड़कर मुमुक्षु अन्य मतको अपनाएगा तो वह कदापि मोक्षको प्राप्त नहीं होगा, अपितु अनर्थमय संसारको प्राप्त होगा, क्योंकि "असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥" (ईश० ३) (सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ) जो ऐसा ज्ञान न प्राप्तकर आत्माको कर्ता,

(२ जन्माद्यधिकरणम् सू० २)

* ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान्सूत्रकारः-

प्रथम अधिकरणमें कहा गया है कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उस ब्रह्मका लक्षण (स्वरूप) क्या है ? इसपर भगवान् सूत्रकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

पदच्छेद—जन्मादि, अस्य, यतः ।

सूत्रार्थ—(अस्य) इस जगत् की (जन्मादि) उत्पत्ति, स्थिति तथा लय (यतः) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है ।

* जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समा-

---

जन्म-उत्पत्ति है आदि में जिनके वे जन्मादि, यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है । उत्पत्ति, स्थिति

सत्यानन्दी-दीपिका

भोक्ता, संसारी आदि समझते हैं, वे आत्मघाती अज्ञानसे आवृत असुर योनियोंको प्राप्त होते हैं)'

"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥"

(जो पुरुष आत्माका जैसा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है वैसा न समझकर उसे कर्ता भोक्ता आदि समझता है, उस आत्मापहारी चौरने कौन-सा पाप नहीं किया) इत्यादि श्रुति, स्मृति प्रमाण हैं । सारांश यह है कि बन्ध अध्यासमूलक है और उसकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे होती है, एतावता इस ग्रन्थके विषय और प्रयोजन सिद्ध ही हैं । वेदान्त विचार पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रोंसे सिद्ध नहीं है, इसलिए वेदान्त विचारार्थ इस ग्रन्थका आरम्भ आवश्यक है । विषय और ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव और अधिकारीका प्राप्य-प्रापकभाव आदि सम्बन्ध हैं, इस प्रकार विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारीके सिद्ध होनेपर परम निःश्रेयसकी साधन भूत एवं तत्त्वज्ञान (जीवब्रह्मैक्य ज्ञान) की प्रयोजक यह ब्रह्ममीमांसा आरम्भ की जाती है ॥ १ ॥

* प्रथम सूत्रसे शास्त्रके आरम्भकी उपपत्ति दिखलाकर शास्त्रका आरम्भ करते हुए भगवान् भाष्यकार पूर्व और उत्तर अधिकरणकी संगति सूचित करनेके लिए उक्तका पुनः 'ब्रह्म' इत्यादिसे उल्लेख करते हैं । पहले यह कहा जा चुका है कि मुमुक्षुको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए वेदान्त वाक्योंका विचार करना चाहिए । इस कथनसे यद्यपि प्रधानरूपसे ब्रह्म प्रतिज्ञात होनेपर तदङ्गभूत प्रमाण आदि भी प्रतिज्ञात हो जाते हैं, तो भी ब्रह्म विषयक प्रमाण तथा युक्ति (साधक, बाधक प्रमाणोंके सहकारी तर्क) आदिका विचार ब्रह्मके विशेषज्ञानके विना नहीं हो सकता, अतः ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानके लिए प्रथम ब्रह्मका लक्षण कहना चाहिए । शंका—परन्तु अनुभूत वस्तु निश्चय ही परिमित, जड़, मलिन तथा विनाशी होती हैं । इस अनुभूयमान दृश्यरूपसे तथा तदतिरिक्त नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्मका स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता । प्रसिद्धका ही लक्षण होता है अत्यन्त अप्रसिद्धका नहीं ? सि०—समाधान—प्रसिद्ध और अप्रसिद्धके विषयमें यह बात है कि जो इतर प्रमाणसे अप्रसिद्ध है वह शब्द प्रमाणसे प्रसिद्ध ही है । परन्तु यहाँ तो शब्दसे भी प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि लक्षणीय ब्रह्म अत्यन्त अप्रसिद्ध है इस आशयसे 'किं लक्षणं ब्रह्म' ऐसा कहा है अर्थात् ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता, अतः उसकी जिज्ञासा भी नहीं हो सकती । पूर्वपक्षीके इसप्रकारके आक्षेपसे इस अधिकारणका आरम्भ है, इसलिए पूर्व अधिकरणकी इस अधिकरणके साथ आक्षेपसंगति है ।

जो पहले आक्षेप किया गया है कि अत्यन्त अप्रसिद्ध ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता ।

सार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। * अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञा-

और नाश यह समासका अर्थ है। श्रुति निर्देशसे तथा वस्तुस्थितिकी अपेक्षा जन्म आदि है। श्रुति निर्देश है 'यतो वा इमानि०' (जिससे ये आकाश आदि सारे भूत उत्पन्न होते हैं) इस वाक्यमें उत्पत्ति, स्थिति और नाशका क्रम दिखाई देता है। वस्तु स्थिति भी ऐसी है कि जन्मसे सत्ताको प्राप्त धर्मीकी ही स्थिति और लयका संभव है। 'अस्य' प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध धर्मीका 'इदम्' शब्दसे निर्देश है। और 'अस्य' इसमें षष्ठी विभक्ति जन्म आदि धर्मोंका धर्मी (जगत्) के साथ सम्बन्ध द्योतनके लिए है। 'यतः' यह शब्द कारणका निर्देशक है। जो नाम रूपसे अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता और भोक्ताओंसे संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्तसे क्रिया और फलका आश्रय है एवं मनसे भी अचिन्त्य रचनारूपवाले इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय

सत्यानन्दी-दीपिका

अब इसका सूत्र और भाष्यद्वारा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवाक्यकी पृष्ठभूमिमें समाधान किया जाता है। इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं वह ब्रह्म है। इसप्रकार ब्रह्मका लक्षण उपपन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि कल्पित जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-उभयात्मक कारण ब्रह्म है। उत्पत्ति आदिमें है जिनके ऐसे स्थिति और प्रलय जन्मादि कहे जाते हैं, यहाँ बहुव्रीहि समास है। वह दो प्रकारका है, एक तद्गुणसंविज्ञान और दूसरा अतद्गुणसंविज्ञान। जहाँ विशेषण पदार्थोंका क्रियामें अन्वय हो वहाँ तद्गुणसंविज्ञान समझना चाहिए। अथवा सब पदार्थ विशेषण तथा गौण हों और अन्य पदार्थ विशेष्य तथा प्रधान हों तो वह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। यथा 'लम्बकर्णमानय' 'लम्बे कानवाले (गर्दभ) को ले आओ' यहाँ 'लम्बे कान' यह विशेषण है और 'आनय' कियामें अन्वित होता है। अथवा 'पीताम्बरो हरिः' 'पीतानि अम्बराणि यस्य सः पीताम्बरो हरिः' यहाँ 'पीतवस्त्र' विशेषण है और 'हरि' विशेष्य है। यहाँ विशेषण गौण है और विशेष्य प्रधान है अर्थात् जहाँ समासके घटकी भूत विशेषण पदार्थ गौणरूपसे ज्ञात हों वह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। जहाँ समासके घटकी भूत विशेषण पदार्थोंका क्रियामें अन्वय न हो वह अतद्गुणसंविज्ञान कहा जाता है। यथा 'दृष्टसागरमानय' 'दृष्टसागरको ले आओ' अर्थात् जिसने सागर देखा है उसे ले आओ' यहाँ व्यक्तिके साथ सागरका क्रियामें अन्वय नहीं है, अतः यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। प्रकृतमें तो तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है, क्योंकि यहाँ 'जन्मादि' सूत्रमें स्थिति और लय विशेष्योंके साथ उत्पत्ति रूप विशेषणका भी ग्रहण है। किञ्च 'अस्य' इस 'इदद' पदसे कार्य मात्रका ग्रहण किया गया है अर्थात् सूत्रमें प्रत्यक्ष-श्रुति(इदं सर्वमसृजत), अनुमान-स्मृति आदिसे सिद्ध कार्यमात्रका निर्देश किया गया है। और 'अस्य' इस इदम् पदमें षष्ठी विभक्ति आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चका जन्म आदि धर्मोंके साथ सम्बन्ध सूचित करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जगत्के जन्म आदि ब्रह्मसे होते हैं।

* जैसे कुम्हार 'घट' नामकी वस्तुके नाम और रूपका पहले अपने अन्तःकरणमें विचारकर

त्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः। * अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वे-वान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते। * न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः

जिस सर्वज्ञ, शक्तिमान् कारणसे होते हैं 'वह ब्रह्म है' यह वाक्यशेष है। अन्य भावविकारोंका भी इन तीनोंमें ही अन्तर्भाव है, इसलिए उत्पत्ति, स्थिति और नाशका यहाँ (सूत्रमें) ग्रहण है। यास्कमुनिसे पठित 'जायते' (उत्पन्न होता है) 'अस्ति' (है) इत्यादि छः भावविकारोंका ग्रहण किए जानेपर जगत्को स्थिति कालमें उनकी संभावना होनेसे मूल कारणसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाश गृहीत नहीं होंगे, संभव है कोई यह आशङ्का करे ऐसी शंका न करे, इसलिए ब्रह्मसे इस जगत्की जो उत्पत्ति, उसीमें जो स्थिति और लय श्रुतिमें प्रतिपादित हैं वे ही जन्म स्थिति और लय यहाँ गृहीत होते हैं। पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त जगत्की यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वरको छोड़कर

सत्यानन्दी-दीपिका

अनन्तर उसे बाहर बनाता है, वैसे ही परम कारण ब्रह्म भी अपने प्रत्यक्ष किए हुए जगत्को नाम-रूपसे अभिव्यक्त करता है। इसमें 'विवादास्पदं जगत् चेतनकर्तृकं कार्यत्वात् नाम-रूपात्मकत्वाच्च घटवत्' 'जैसे नामरूपात्मक तथा कार्य होनेसे घट चेतनकर्तृक है, वैसे ही विवादका विषयभूत यह जगत् भी नामरूपात्मक तथा कार्य होनेसे चेतनकर्तृक है' यह अनुमान भी है। इससे सांख्यसम्मत जड़ प्रधान कर्तृत्व तथा बौद्ध सम्मत स्वरूप रहित शून्य कर्तृत्वका निषेध होता है। यह जगत् अनेकविध कर्ता तथा भोक्ताओंसे युक्त है। यहाँ कोई केवल कर्ता है और कोई केवल भोक्ता। ऋत्विज् यज्ञ आदिका केवल कर्ता है और यजमान कर्मफल भोक्ता है। श्राद्ध आदिमें पितृगण केवल भोक्ता और पुत्र आदि केवल कर्ता हैं। वैश्वानरेष्टिमें पिता कर्ता और पुत्र फल भोक्ता है। हाँ, क्वचिद् भोजनादिमें कर्ता भी भोक्ता है, इससे यहाँ कर्ता और भोक्ताका पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है। व्याकरणानुसार परस्मैपदसे भी यही सिद्ध होता है कि याज्ञिकोंसे फल भोक्ता यजमान पृथक् है, अन्यथा परस्मैपदका प्रतिपादन व्यर्थ हो जायगा अथवा उसका सर्वथा लोप हो जायगा। किञ्च सम्पूर्ण क्रियाके फलका आश्रयभूत इस जगत्में देश काल और निमित्त आदिकी पूर्णरूपसे व्यवस्था है। कोई प्रतिनियत देशमें उत्पन्न होते हैं, जैसे कृष्णमृग, केसर आदि। कोई प्रतिनियत कालमें होते हैं, यथा कोकिलका आलाप आदि वसन्त ऋतुमें होते हैं। इसप्रकार कोई प्रतिनियत निमित्तसे होते हैं, जैसे बलाकाके गर्भ धारणका नियमित निमित्त नवघन ध्वनि है। कोई नियत क्रियावाले होते हैं, यथा ब्राह्मण ही याजक होते हैं अन्य नहीं। कोई नियत फलवाले होते हैं, जैसे कोई सुखी, कोई दुःखी और कोई दोनों। इसप्रकार इस विचित्र जगत्की रचना परमेश्वरसे ही होती है।

* शंका—"जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यति" (निरुक्त १।१।३) (शरीर उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर अस्तित्वको प्राप्त होता है, परिणामको प्राप्त होता है, बढ़ता है अर्थात् बाल, युवा आदि अवस्थाओंको प्राप्त होता है, क्षीण होता है, नाशको प्राप्त होता है) यह यास्कमुनिका वचन है। इसके अनुसार जब प्रत्येक भाव पदार्थ छः विकारोंवाला है, तो जन्मादि सूत्रमें वृद्धि आदिका ग्रहण क्यों नहीं किया गया है? समाधान—वृद्धि अवयवोंका बढ़ना, यथा

प्रधानादचेतनात्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। * नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न; वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तर-

---

न्यसे—अचेतन प्रधानसे, परमाणुओंसे, अभाव—शून्यसे अथवा संसारी (हिरण्यगर्भ) से उत्पत्ति आदिकी सम्भावना नहीं की जा सकती और इसीप्रकार स्वभावसे भी उत्पत्ति आदिकी सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ कर्यार्थीद्वारा विशिष्ट देश, काल और निमित्तका ग्रहण है। ईश्वरको जगत्का कारण माननेवाले (नैयायिक) इसी अनुमानको संसारी (जीव) से व्यतिरिक्त ईश्वरके अस्तित्व आदिमें साधन मानते हैं। तो इस जन्मादि सूत्रमें भी उसी अनुमानका उपन्यास किया गया है? नहीं, क्योंकि सूत्र वेदान्त वाक्यरूपी पुष्पोंको गूंथनेके लिए हैं। सूत्रोंद्वारा वेदान्त वाक्यों-का उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ विचारद्वारा निश्चित तात्पर्यसे ब्रह्मावगति (ब्रह्मज्ञान) निष्पन्न होती है अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे निष्पन्न नहीं होती। जगत्के जन्म-

सत्यानन्दी-दीपिका

महान् पटो जायते' (महान् पट उत्पन्न होता है) यह उत्पत्तिरूप है। धर्म, लक्षण और अवस्था भेदसे परिणाम तीन प्रकारका है, वह उत्पत्तिरूप है। जैसे मृत्तिका, सुवर्ण आदि धर्मीका घट, कटक आदि धर्म परिणाम उत्पत्ति रूप है, एवं घट आदि उत्पन्न होते हैं यह लक्षणरूप परिणाम उत्पत्तिरूप है। घट आदिमें नवीनत्व व पुरानत्व भेद अवस्थापरिणाम है वह भी उत्पत्तिरूप है। अपक्षय—अवयवोंका ह्रास नाश है। इसप्रकार इन छः भाव विकारोंका जन्म, स्थिति तथा लय इन तीनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु इसको सूत्रका मूल माननेसे जगत्की कारणता ब्रह्ममें सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि उत्पन्न हुए महाभूतोंके स्थितिकालमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे भौतिक पदार्थोंमें जन्म आदि छः विकारोंको देखकर यास्कमुनिने उपर्युक्त निरुक्त वाक्यकी रचना की है। इससे केवल छः भावविकारोंवाले भूतोंकी सिद्धि हो सकती है। इसलिए 'जन्मादि' सूत्र ब्रह्मका लक्षणरूप है और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' श्रुति मूलक है। अतः जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण ब्रह्म है।

* 'अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्त' इत्यादि पूर्वोक्त चार विशेषणोंसे युक्त इस जगत्के उत्पत्ति आदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वरसे होते हैं अन्यसे नहीं। इसपर भगवान् भाष्यकार 'प्रधानादचेतनात्' इत्यादिसे कुछ मतोंका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं—सांख्यमतमें जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण प्रधान है। परन्तु प्रधान जड़ है, अतः उससे इस विचित्र जगत्के उत्पत्ति आदि असम्भव हैं। शून्यवादी इस जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण शून्य मानते हैं। परन्तु शून्य अभावरूप है और यह विचित्र रचनात्मक जगत् भावरूप है, अतः अभावसे भावके उत्पत्ति आदि कदापि नहीं हो सकते। यदि मानें तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा अर्थात् बालूसे भी तेलकी उत्पत्ति हो जायगी, और **'नासतो विद्यते भावः'** (भ० गी० २।१६) (असत्का अस्तित्व नहीं होता) **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** (छा० ६।२।१) (हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) **'कथमसतः सज्जायेतेति'** (छा० ६।२।२) (भला असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है) इस प्रकार श्रुति आदि प्रमाणोंसे शून्यसे जगत्के उत्पत्ति आदि बाधित हैं। **नैयायिक**—इस विचित्र जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण अनेक और विचित्र परमाणु हैं। परन्तु जड़ परमाणु इस विचित्र जगत्की रचनामें स्वयं प्रवृत्त नहीं

निर्वृत्ता। * सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। * तथा हि–'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह० २।४।५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारा-

आदिके कारणका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त वाक्यों [यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते] के विद्यमान होनेपर उनके अर्थ ग्रहणकी दृढ़ताके लिए वेदान्त वाक्योंका अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि श्रुतिने ही सहायकरूपसे तर्क-अनुमानको स्वीकार किया है। जैसे 'श्रोतव्यः' (आत्मा श्रोतव्य व मन्तव्य है) यह श्रुति है। और

सत्यानन्दी-दीपिका

हो सकते, अतः वे कारण नहीं हैं। इसीप्रकार हिरण्यगर्भ भी इस विचित्र जगत्के उत्पत्ति आदि करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वेता ६।१२) इत्यादि श्रुति ब्रह्माके भी अन्य जीवोंके समान उत्पत्ति आदि कहती है।

चार्वाक अभिमत स्वभाव भी जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह जड़ है। फलार्थी पुरुष देश, काल ओर निमित्तकी अपेक्षा करता है, जैसे धान्यार्थी विशेष देश, वर्षा आदि काल और विशेष बीज आदिकी अपेक्षा करता है, वैसे ही सर्वज्ञ ईश्वर भी जीवोंको तत् तत् कर्मका फल देनेके लिए विशेष देश, काल और निमित्तकी अपेक्षा करता है, परन्तु ऐसा जड़ समुदायमें सम्भव नहीं है। अतः इस विलक्षण जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण परमेश्वर ही है। जगत्के उत्पत्ति आदिके कारणरूपसे श्रुति सिद्ध ईश्वरको नैयायिक अनुमान प्रमाणसे सिद्ध करते हैं—'जगत् चेतनकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' 'जैसे घट कार्य है और वह चेतन कुम्हार कर्तासे निर्मित है, वैसे ही यह जगत् भी कार्य है, अतः वह भी चेतन कर्ता द्वारा निर्मित होना चाहिए, वह चेतन कर्ता जीव आदिसे भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर है। वैशेषिक मतमें प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, शब्द प्रमाण को वे अनुमानरूपसे अर्थका बोधक मानते हैं। इसी आशयको 'एतदेवानुमानं' इत्यादिसे कहा गया है।

* परन्तु 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिका अनुमानमें अन्तर्भाव कर सूत्रकारने 'जन्मादि' सूत्रमें भी अनुमानका ही उपन्यास किया है, यथा 'जगज्जन्मादि सर्वज्ञ ईश्वरकर्तृकं कार्यत्वात्' जगत् कार्य है, अतः उसके जन्मादिका कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर है। परन्तु नैयायिकका यह अनुमान तभी सिद्ध हो सकता है जब हेतु और साध्यका व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षसे सिद्ध हो। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञानमें असमर्थ हैं, अतः अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञान श्रुतिसे ही होता है, इसलिए भगवान् सूत्रकारने 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादि सूत्रोंसे उनके तात्पर्यका विचार किया है, इसलिए यहाँ 'जन्मादि' सूत्रमें भी 'यतो वा इमनि भूतानि' इत्यादि श्रुतियोंका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया गया है अनुमानका नहीं। ब्रह्मज्ञान भी 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह० ३।९।२६) (उस उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुषको मैं पूछता हूँ) इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे गम्य है अनुमानादिसे नहीं, इसलिए 'अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्यार्थके विचारसे तात्पर्यका निश्चय होनेपर ही ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है।

* 'यतो वा इमानि' इत्यादि वेदान्त वाक्यार्थकी दृढ़ताके लिए सहायकरूपसे अनुमान प्रमाण भी स्वीकृत है, जैसे "जगत् अभिन्ननिमित्तोपादानकं कार्यत्वात् ऊर्णनाभ्यारब्धतन्त्वादिवत् अथवा ईश्वरघटसंयोगवत्" जैसे मकड़ीसे उत्पन्न तन्तु आदि कार्य है और उसके प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मकड़ी है, वैसे जगत् भी कार्य होनेसे अभिन्ननिमित्तोपादान कारण वाला है, वह

नेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति । * न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्; अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च

'पण्डितो०' (जैसे पण्डित और मेधावी (बुद्धिमान्) गन्धार (कन्धार) देशको ही प्राप्त करता है, वैसे ही यहां आचार्यवान् पुरुष सत्को जानता है) यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुष बुद्धिको सहायक दिखलाती है । धर्मजिज्ञासाके समान ब्रह्मजिज्ञासामें केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु

सत्यानन्दी-दीपिका

कारण ईश्वर है अथवा जैसे ईश्वर और घटका संयोग कार्य है उसके प्रति अभिन्ननिमित्तोपादन कारण ईश्वर है । प्रथम दृष्टान्त वेदान्तमें प्रसिद्ध है, दूसरा उदाहरण नैयायिकोंके लिए है, क्योंकि वे ईश्वरको केवल निमित्तकारण मानते हैं । जिससे वस्तु उत्पन्न हो उसमें ही लीन हो वह उपादान कारण है। उपादानकारणसे भिन्न कारण निमित्त कहे जाते हैं । यथा मृत्तिकासे उत्पन्न हुआ घट उसीमें लीन होता है, अतः मृत्तिका घटके प्रति उपादानकारण है और कुम्हार आदि निमित्तकारण हैं । परन्तु जगद्रूप कार्यके प्रति उपादान और निमित्तकारण एक ही है । इसमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाःप्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) (हे सोम्य ! उसी प्रकार अक्षरसे विविध भाव उत्पन्न होते हैं तथा उसमें ही लीन होते हैं, वह सत्स्वरूप ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं । संसारके प्रति ईश्वरको केवल निमित्तकारण माननेवाले नैयायिकोंका मत उक्त अनुमान तथा श्रुतिसे खण्डित हुआ समझना चाहिए । 'सः कर्ता सर्वज्ञः जगत्कारणत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा कुलालः' जगत्का कारण होनेसे वह कर्ता सर्वज्ञ है, जो जगत्का कारण नहीं है वह सर्वज्ञ भी नहीं, यथा कुलाल । यह अनुमान 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः' इस श्रुत्यर्थकी दृढ़ता (संशय तथा विपर्ययकी निवृत्ति) के लिए है । श्रुतार्थमें यदि संशय अथवा विपर्यय उत्पन्न हो तो वे तर्कसे निवृत्त करने चाहिएँ, इस विषयमें "श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥" (श्रुति वाक्योंका श्रवण करना चाहिए और श्रुतार्थका तर्कोंसे मनन करना चाहिए मननकर उसका ध्यान करना चाहिए, क्योंकि ये ज्ञानोत्पत्तिमें हेतु हैं) यह श्रुति प्रमाण है ।

* जैसे डाकू किसी पुरुषको, आँखोंपर पट्टी बाँधकर गन्धार देशसे दूर किसी अरण्यमें छोड़ दें, तब कोई कृपालु पुरुष उसके आर्तनादकों सुनकर वहाँ आ पहुँचे । उसकी पट्टी खोलकर उसे स्वदेश जानेका मार्ग बतादे, तो वह देश भ्रष्ट पण्डित-बताए मार्गके समझनेमें चतुर तथा मेधावी (धारण शक्ति सम्पन्न तर्क कुशल) पुरुष स्वदेशको ही पहुञ्च जाता है, वैसे ही अविद्याने अपने विलासद्वारा जिस पुरुषको आनन्दस्वरूप स्वात्मासे दूर हटाकर इस संसाररूप भयावह वनमें फेंक दिया है । दुःखोंसे घबड़ाए उस आर्तपुरुषको कोई दयालु ब्रह्मनिष्ठ आचार्य 'तू संसारी नहीं है' अपितु 'तत्त्वमसि' (वह तू है) अर्थात् 'तू ब्रह्म है' इसप्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञानोपदेश करता है । यदि वह श्रोता उपदेश ग्रहण करनेमें समर्थ तथा तर्क कुशल है तो झटिति आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर संसारदुःखोंसे मुक्त हो जाता है । इसतरह 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुति अपने अर्थ समझानेके लिए पुरुषके बुद्धिरूप तर्ककी सहायकरूपसे अपेक्षा दिखलाती है । शंका—वेद प्रतिपादित होनेसे जैसे धर्ममें मनन आदिकी अपेक्षा नहीं है, वैसे ब्रह्ममें भी नहीं होनी चाहिए, किन्तु युक्त तो यह है कि धर्मके समान ब्रह्मको भी श्रुति, लिङ्ग आदिकी अपेक्षा हो ? इसका समाधान—'न' इत्यादि भाष्यसे किया जाता है ।

ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। * तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति' अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि?

श्रुति आदि तथा अनुभव आदि यथासंभव उसमें प्रमाण हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्ध वस्तु विषयक और ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त अवधिवाला है। कर्तव्य-धर्मके विषयमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उसमें तो श्रुति आदि ही प्रमाण हैं। इससे अतिरिक्त धर्मकी उत्पत्ति पुरुषके अधीन है। इसलिए लौकिक तथा वैदिक कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें पुरुष समर्थ-स्वतन्त्र है। जैसे कि अश्वसे जाता है, पैदल जाता है अथवा अन्य प्रकारसे जाता है अथवा नहीं ही जाता। वैसे ही 'अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करे' 'अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण न करे' ऋग्वेदी 'सूर्य उदय होनेपर अग्निहोत्र करे' यजुर्वेदी 'सूर्योदयसे पहले अग्निहोत्र करे' इसप्रकार विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद यहां धर्ममें सार्थक होते हैं। परन्तु सिद्ध वस्तु इसप्रकार है अथवा इसप्रकार नहीं है, अथवा नहीं है, ऐसे विकल्प नहीं किये जा सकते हैं, विकल्प तो पुरुष बुद्धिकी अपेक्षासे होते हैं। सिद्ध वस्तुका यथार्थ ज्ञान पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु वह तो सिद्ध वस्तुके अधीन है। एक

सत्यानन्दी-दीपिका

* वेद प्रतिपादकता यद्यपि ब्रह्म और धर्म दोनोंमें समान है, तथापि जिज्ञास्य धर्म और जिज्ञास्य ब्रह्ममें महान् अन्तर है। ब्रह्ममें श्रुति प्रमाणसे अतिरिक्त ब्रह्मवेत्ताओंका ब्रह्म साक्षात्काररूप अनुभव भी प्रमाण है। किञ्च भाष्यस्थ आदि पदसे मनन निदिध्यासनका भी प्रमाणरूपसे ग्रहण है। मोक्षके लिए श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मज्ञानका पर्यवसान ब्रह्म साक्षात्कार है। ब्रह्मज्ञानका प्रत्यगभिन्न सिद्ध ब्रह्म विषय है और ब्रह्म साक्षात्कार फल है। 'मन्तव्यः' इसप्रकार श्रुति प्रतिपादित मनन ज्ञानकी दृढ़ताके लिए अत्यन्त अपेक्षित है। परन्तु धर्ममें श्रुति आदि प्रमाणसे अतिरिक्त मनन आदिकी अपेक्षा बिल्कुल नहीं है, क्योंकि धर्म अतीन्द्रिय होनेसे नित्य परोक्ष है। वेद आदि विहित शुभ क्रियाओंसे उत्पन्न अदृष्टविशेष पुण्य (धर्म) है और निषिद्ध क्रियाओंसे उत्पन्न अदृष्ट विशेष पाप (अधर्म) है। भट्ट-प्रस्थान तथा प्रभाकर-प्रस्थान, इस भेदसे पूर्वमीमांसादर्शनमें दो प्रस्थान (मत) हैं। कुमारिलभट्टके मतमें याग, दान आदि क्रियाएँ धर्माधर्म हैं और पुण्य, पापको लक्षणाद्वारा गौणरूपसे धर्माधर्म कहा गया है। प्रभाकरमतमें पुण्य, पापको ही धर्माधर्म कहा गया है, इनका साधन होनेसे याग, दान आदि क्रियाओंको भी गौणरूपसे धर्माधर्म कहा गया है। 'व्यवहारे भट्टन्यायः' (व्यवहारमें भट्टन्याय , मान्य है)। इस न्यायके अनुसार भगवान् भाष्यकारने याग आदिको धर्म मानकर 'कर्तुमकर्तुम्' इत्यादि कहा है।

* अब धर्ममें विधि आदिको दिखाया जाता है—'यजेत' (याग करे) यह विधि है। 'न सुरां पिबेत' (सुरा न पीवे) यह प्रतिषेध है। 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत' (धान्यसे अथवा यवोंसे होम करे) यह सम्भावित विकल्प है। 'अतिरात्र नामक यागमें षोडशी नामक पात्रका ग्रहण करे' 'अतिरात्रमें षोडशीपात्रका ग्रहण न करे' यह इच्छा अधीन विकल्प है। 'मा हिंस्यात्' (हिंसा न करे) यह उत्सर्ग है। सामान्य वाक्यको उत्सर्ग कहा जाता है, क्योंकि वह विशेष वाक्यसे बाधित होता है।

वस्तुतन्त्रमेव तत्। नहि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। * ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न; इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि; न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मण इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्। किं तर्हि? वेदान्तवाक्य-

---

स्थाणुमें स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उसमें पुरुष है अथवा अन्य कुछ है, यह मिथ्या ज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थ ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है; उसीप्रकार सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञानोंका प्रामाण्य वस्तुके अधीन है। ऐसा होनेपर ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन है, क्योंकि वह भी सिद्ध वस्तु विषयक है। यदि यह शंका हो कि सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म अन्य प्रमाणका विषय ही है, इससे तो वेदान्तवाक्योंके विचारकी निष्फलता प्राप्त होती है? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं है, अतः अन्य प्रमाणोंसे उसका जगद्रूप कार्यके साथ सम्बन्धका ग्रहण नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभावसे विषयविषयक हैं, ब्रह्मविषयक नहीं हैं। ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय होता तो यह जगद्रूप कार्य ब्रह्मके साथ सम्बद्ध है, ऐसा गृहीत होता। परन्तु कार्यमात्र अर्थात् यह जगद्रूप कार्य ही इन्द्रियोंसे गृहीत होता है, तो क्या वह ब्रह्मके साथ सम्बद्ध है अथवा किसी अन्यके साथ सम्बद्ध है, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए 'जन्मादि' सूत्र अनुमान उपन्यासके लिए नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्योंके प्रदर्शनके लिए है।

सत्यानन्दी-दीपिका

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नीषोमीय पशुका आलभन करे) यह अपवाद है, क्योंकि यह विशेष वाक्य है। इसप्रकार विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद धर्ममें सार्थक होते हैं। शास्त्रके अनुसार पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा न करनेवाले सब विकल्प प्रमारूप होते हैं। परन्तु लोकमें पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा रखनेवाले सब विकल्प अप्रमारूप होते हैं।

* सिद्ध ब्रह्म केवल श्रुति प्रतिपाद्य है। इसपर पूर्व पक्षी आक्षेप करता है—'ब्रह्म प्रत्यक्षादिगोचरं धर्मविलक्षणत्वात् घटादिवत्' "धर्मसे विलक्षण होनेके कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है जैसे घटादि।" अतः 'जगज्जन्मादि ब्रह्मकारणकं कार्यत्वात्' 'जगत्का जन्मादि ब्रह्मकारणक है, क्योंकि वह कार्य है' यह अनुमान 'जन्मादि' सूत्रमें विचार करने योग्य है। श्रुति नहीं, इसलिए 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति-वाक्योंका विचार निष्फल है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणसे ग्राह्य है। सिद्धान्ती—क्या 'यत्कार्यं तद्ब्रह्मजम्' जो कार्य है वह ब्रह्मसे जन्य है' यह अनुमान ब्रह्मका साधक है अथवा 'यत्कार्यं तत्सकारणकम्' 'जो कार्य है वह सकारणक है' यह ब्रह्मका साधक है? प्रथम अनुमान तो नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्ति असिद्ध है। परन्तु ब्रह्म तो घट आदिके समान इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस विषयमें 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः' (कठ० २।१।१) 'न चक्षुषा गृह्यते' (जो ब्रह्म चक्षुसे गृहीत नहीं होता) 'यन्मनसा न मनुते' (केन० १।५) (जो मनसे मनन नहीं किया जाता) इत्यादि श्रुति प्रमाण है, अतः उसका प्रत्यक्ष प्रमाणसे व्याप्ति ज्ञान भी नहीं हो सकता। शंका—ब्रह्म भले ही इन्द्रियोंका विषय न हो, परन्तु व्याप्तिज्ञान तो होगा

प्रदर्शनार्थम्। * किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् ? 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह-'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। (तैत्ति० ३।१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्-'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६)। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि॥ २॥

वे कौनसे वेदान्तवाक्य हैं, जिनका सूत्रद्वारा ब्रह्मके लक्षणरूपसे यहाँ विचार करना इष्ट है ? 'भृगुर्वै वारुणिः' (वारुणि भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और कहा हे भगवन् ! ब्रह्मका उपदेश कीजिए) ऐसा उपक्रमकर कहते हैं—'यतो वा इमानि०' (जिससे ये समस्त भूत-भौतिक उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं, लय होते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसकी जिज्ञासा कर वह ब्रह्म है) इस सामान्य कारण विषयक श्रुतिवाक्यका निर्णय वाक्य यह है—'आनन्दाद्ध्येव०' (निस्सन्देह आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और लय होते हुए आनन्दमें ही प्रविष्ट होते हैं)। नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्तस्वभाव सर्वज्ञ स्वरूप कारण (ब्रह्म) विषयक इसप्रकारके [स्वरूप तथा तटस्थ लक्षणके निर्देशक] अन्य उपनिषद्-वाक्य भी उदाहरणरूपसे देने चाहिएँ॥ २॥

सत्यानन्दी-दीपिका

ही ? समाधान—यदि इन्द्रियोंसे ब्रह्मका ज्ञान होता तो जगद्रूप कार्य ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता। जैसे मृत्तिकाका ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है तो घट मृत्तिका जन्य है, यह भी सर्वानुभव सिद्ध है। किन्तु यहाँ केवल जगद्रूप कार्य ही इन्द्रियोंसे उपलब्ध होता है ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है, अतः सुतरां उसमें व्याप्तिज्ञान असिद्ध है। 'यत्कार्यं तत्सकारणकम्' इससे केवल सामान्यरूपसे कार्य कारणवाला है यह सिद्ध होता है, किन्तु यह जगद्रूप कार्य ब्रह्मसे जन्य है अथवा किसी अन्य कारणसे, यह निश्चय नहीं होता। वह कारण विषयक निश्चय तो केवल श्रुतिसे ही हो सकता है। इसलिए 'जन्मादि' सूत्र अनुमान उपन्यासके लिए नहीं है, अपितु वेदान्त वाक्योंके दिखलानेके लिए है। अतः इस सूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' यह श्रुतिवाक्य विचारका विषय है। श्रुत्यर्थकी दृढ़ताके लिए गौणरूपसे अनुमान भी विचारणीय है।

* यहाँ प्रथम सूत्रमें विशिष्ट अधिकारीके लिए ब्रह्म विचारकी प्रतिज्ञा की गई है, और द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेवालोंके लिए ब्रह्मका लक्षण कहा गया है। परन्तु 'जन्मादि' सूत्रमें तथा 'यतो वा इमानि' इस श्रुतिवाक्यमें केवल सामान्य कारणका ज्ञान होता है कि इस द्वैतप्रपञ्चका कोई कारण है, क्या वह प्रधान, परमाणु अथवा अन्य है ? ऐसी कारण विषयक जिज्ञासा बनी रहती है, उसकी निवृत्तिके लिए विशेष कारण विषयक 'आनन्दाद्ध्येव' यह निर्णय वाक्य उद्धृत किया गया है। इससे यह निर्णय हो जाता है कि सारे जगत्का कारण आनन्द है और वह ब्रह्मस्वरूप है, जड़ प्रधान आदि नहीं। इन श्रुतिवाक्योंसे ब्रह्मके दो लक्षण प्रतीत होते हैं-एक स्वरूप और दूसरा तटस्थ। 'स्वरूपं सत् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' ''जो लक्षण स्वलक्ष्यका स्वरूप होता हुआ स्वलक्ष्यको अन्य अलक्ष्योंसे पृथक् ज्ञापित करे वह स्वरूपलक्षण है।'' जैसे-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'सत्य, ज्ञान और अनन्त' ये ब्रह्मके स्वरूप भूत होते हुए लक्ष्य ब्रह्मका अलक्ष्य-असत्, जड़ और दुःखरूप प्रपञ्चसे पृथक् ज्ञान कराते हैं, अतः सत्य आदि ब्रह्मके स्वरूप लक्षण हैं। ‡ 'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थ

(शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् सू० ३)

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं, तदेव द्रढयन्नाह—

जगत्‌की कारणता दिखलानेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है अर्थतः प्राप्त हुआ है, अब उसे दृढ़ करते हुए कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—ऋग्वेद आदि शास्त्रका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। अथवा ब्रह्म केवल ऋग्वेद आदि शास्त्र प्रमाणक है अर्थात् ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानमें ऋग्वेदादि शास्त्र ही प्रमाण हैं।

***महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। * नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वि-**

अनेक विद्या स्थानोंसे उपकृत दीपकके समान सब अर्थोंका प्रकाशन करनेमें समर्थ और सर्वज्ञके समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्रका योनि (कारण) ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादि रूप सर्वगुण-

सत्यानन्दी-दीपिका

लक्षणम्' "जो लक्षण स्वलक्ष्यमें कभी रहकर अपने लक्ष्यका अन्य अलक्ष्योंसे पृथक् बोध कराता है वह तटस्थ लक्षण है।" जन्म, स्थिति और लयकी कारणता ब्रह्ममें सदा नहीं रहती, केवल मायाकी अधिष्ठानता कालमें रहती है, अतः इनकी कारणता ब्रह्ममें कदाचित् है और सांख्य नैयायिक आदिके मतमें प्रधान, परमाणु आदि जो अलक्ष्य हैं उनसे भी ब्रह्मका पृथक् रूपसे ज्ञान कराता है। इसलिए कदाचित् ही व्यावर्तक होनेसे जन्म, स्थिति तथा लयकी कारणता ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्य तथा 'जन्मादि' सूत्र ब्रह्मके तटस्थ लक्षण हैं। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें 'यतः' शब्द 'आनन्दाद्ध्येव' इस श्रुतिके अनुसार है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।९।२८) (ब्रह्म विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है) इत्यादि अन्य शाखाओंमें स्थित वाक्य भी इस अधिकरणके विषय हैं। इसप्रकार सब शाखाओंमें तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण घटित वाक्य जिज्ञास्य ब्रह्ममें समन्वित हैं। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती) 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है और वह वेदान्तवाक्योंके विचार करनेसे होता है, इसलिए ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए वेदान्त-वाक्योंका विचार करना चाहिए। पूर्वपक्षमें ब्रह्मस्वरूपकी असिद्धिसे मुक्ति असिद्ध है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है ॥ २ ॥

‡ 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें भगवान् सूत्रकारने तटस्थ लक्षणका निर्देश किया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी तटस्थ लक्षणके प्रतिपादक ही हैं। इसी अर्थाभिप्रायको रामानुजादि अर्वाचीन भाष्यकारोंने भी स्वीकार किया है। परन्तु भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य तटस्थ लक्षणको बतलाते हुए तटस्थ लक्षण प्रतिपादक सूत्रका भी स्वरूप लक्षणमें तात्पर्य बतला रहे हैं और 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुति-वाक्योंका स्वरूपलक्षणमें पर्यवसान करते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि तटस्थ लक्षणसे लक्ष्यका सामान्य परिचय होता है, परन्तु उसका इदम्, इत्थंरूपसे ज्ञान स्वरूप लक्षणके अधीन है, इसलिए जहाँ तक इदम्, इत्थंरूपसे निश्चय नहीं होता वहाँ तक वाक्यका तात्पर्य होना चाहिए। इस अभिप्रायसे भगवान् भाष्यकारने तटस्थ लक्षण वाक्योंका उपलक्षणरूपसे स्वरूप लक्षण परक तात्पर्य वर्णन किया है। इससे वैदेशिक विद्वानों तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानोंने भाष्यकारपर जो कुछ आक्षेप किया है, वह संप्रदाय तथा भाष्यका भली-भाँति परिशीलन न होनेके कारण है।

तस्य सर्वज्ञादन्यः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके ।

शम्पन्न शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञको छोड़कर किसी अन्यसे नहीं है । जो जो विस्तारार्थ शास्त्र जिस पुरुष-विशेषसे विरचित है, जैसे पाणिनि आदिके ज्ञेयका एक अंशरूप अर्थसे युक्त व्याकरण आदि शास्त्र है, वह (पुरुषविशेष) उस स्वविरचित शास्त्रसे अधिकतर ज्ञानवान् होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध हे,

सत्यानन्दी-दीपिका

* जिसप्रकार अध्येता वेदोंके पूर्वक्रम (आनुपूर्वी आदि) का स्मरणकर मन्त्रोंका उच्चारण करते हैं । इसीप्रकार मायाकी सहायतासे आवरण रहित अनन्त, सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्वकल्पके क्रमानुसार वेदों तथा उनके अर्थोंका एक साथ ही ज्ञानकर उनकी अभिव्यक्ति करता है, इसलिए वेद पौरुषेय (पुरुष प्रणीत) नहीं है । जहाँ अर्थज्ञान पूर्वक वाक्यज्ञान वाक्य रचनामें कारण हो वहाँ पौरुषेयत्व माना जाता है, जैसे महाभारत आदि ग्रन्थ पौरुषेय (पुरुष प्रणीत) माने जाते हैं । ईश्वरको युगयुत् अर्थज्ञान और वाक्यज्ञान होता है, इसलिए वेद पौरुषेय नहीं हैं । वेद अपौरुषेय हैं और उनका तथा सबका कर्ता ब्रह्म सर्वज्ञ है । यह प्रतिपादन करना पूर्वसूत्र तथा इस सूत्र (अधिकरण) का विषय है । वेदोंका कारण ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह सिद्ध करनेके लिए वेदोंमें 'महान्' आदि विशेषण दिये गए हैं । जिन वेदोंमें चारों वर्णों, चारों आश्रमोंकी यथायोग्य गर्भाधानसे लेकर श्मशान पर्यन्त समस्त क्रियाओंका, ब्रह्ममुहूर्तसे लेकर प्रदोष पर्यन्त कर्तव्य क्रियाओंका, नित्य, नैमित्तक, काम्य तथा प्रायश्चित्त कर्मोंका प्रतिपादन है और जिन वेदोंके अन्तिम भाग (उपनिषदों) में निःश्रेयसरूप ब्रह्म-तत्त्वकी प्राप्तिके लिए शिष्योंके कल्याणका शासन (उपदेश) है, इसलिए ऋग्वेद आदि मुख्य-वृत्तिसे शास्त्र कहे गए हैं । वेद मूलक होनेके कारण न्याय, मीमांसा आदि दर्शन ग्रंथोंमें भी गौण-वृत्तिसे शास्त्र शब्दका प्रयोग होता है । वेद चार, † पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प,

† पुराण—वेदोंमें संक्षेपसे सृष्टि आदिका जो वर्णन है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए वेदार्थ निर्णयमें पुराण उपकारक होते हैं । 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च । वंशानु-चरितश्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥' "सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित ये पाँच जिसमें वर्णित हों वह पुराण कहलाता है । न्याय—प्रमाण, प्रमेय आदिके परिज्ञानार्थ न्यायशास्त्रकी अपेक्षा रहती है । प्रमाण, प्रमेयादिका निरूपण करते हुए न्याय वेदार्थ निर्णयमें सहायक है । मीमांसा—स्वतः प्रमाण होते हुए भी जहाँ जहाँ वेदार्थमें सन्देह होता है, उसका निर्णय करते हुए यह शास्त्र वेदार्थका उपकारक है । इसके समर्थनमें वार्तिककारकी उक्ति भी है—"धर्मे प्रतीयमाने वेदेन करणात्मना । इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यतीति ॥" धर्मशास्त्र—वेदमें संक्षेपसे धर्म और ब्रह्मतत्त्वका जो विवेचन है, उसका विस्तृत वर्णन करते हुए धर्मशास्त्र उपकारक है ।

शिक्षा—इसके द्वारा वर्ण, स्वर, मात्रा, साम सन्तानका संस्कार होता है, अतः संस्कार-द्वारा शिक्षा वेदार्थमें सहायक है । कल्पसूत्र—इसे श्रौतसूत्र भी कहा जाता है । इसमें संक्षेपसे वेदमें आधान आदिसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्मोंका वर्णन है । उनका क्रम वेदान्तरों तथा शाखान्तरोंमें कहा गया है । इसमें अङ्गोंका क्रमबद्ध निरूपण किया गया है, इसलिए क्रमानुष्ठानोंमें श्रौतसूत्रकी अपेक्षा रहती है । व्याकरण—पाणिनीय तथा अत्रिव्याकरण प्रकृति, प्रत्यय विभागको कहते हुए साधु, असाधु विवेचनद्वारा पदका संस्कारक होकर व्याकरण वेदार्थमें उपकारक है । निरुक्त—जैसे लौकिक शब्दोंका अर्थज्ञान करानेके लिए अर्णव, नानार्थरत्नमाला, अमरकोश आदि प्रसिद्ध हैं,

किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृह० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति । इति प्रथमवर्णकम् ॥ * अथवा यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा

तो अनेक शाखा भेदसे भिन्न देव, मनुष्य, पशु, वर्ण, आश्रम आदि विभागका जो हेतु हैं और सर्वज्ञानके भण्डार हैं ऐसे ऋग्वेद आदि नामक वेदोंकी अनायास ही लीलान्यायसे पुरुष निःश्वासकी तरह जिस महान् (अपरिच्छिन्न) सद्रूप कारणसे उत्पत्ति होती है, क्योंकि 'अस्य महतो० (इस अपरिच्छिन्न सद्रूप ब्रह्मका जो निःश्वास है वह ऋग्वेद है) इत्यादि श्रुति है । उस महान् सद्रूप ब्रह्मके निरतिशय सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्वके विषयमें तो कहना ही क्या है । अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र इस ब्रह्मके

सत्यानन्दी-दीपिका

व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये चौदह विद्यास्थान कहे जाते हैं। पुराण आदिसे वेदोंकी व्याख्या होती है और उनका गम्भीर अर्थ स्पष्ट होता है, अतः ये वेदार्थ ज्ञान करानेमें सहायक कारण माने जाते हैं। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेदार्थको न जाननेवाला वेद प्रतिपादित उस महान् तत्त्वको नहीं जानता)। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु आदिने वेदोंकी स्वतः प्रमाणता स्वीकार की है। जैसे प्रदीप अपनी प्रकाशात्मक शक्तिसे बाह्य पदार्थोंका प्रकाशक है, वैसे ही वेद भी गुप्त तथा प्रकट सब पदार्थोंका बोध करानेमें समर्थ है, इसलिए वेद स्वतः प्रमाण है अर्थात् वेद अपनी प्रमाणतामें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता है, जैसे सूर्य अपनी सिद्धिमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता। वेद अचेतन होनेपर भी सर्वार्थ प्रकाशक होनेसे सर्वज्ञकल्प है। सर्वज्ञकल्प वेदोंका कारण ब्रह्म है।

* वेद काण्व, आश्वलायन, माध्यंदिन, कौथुम, पिप्पलाद, शौनक, ऐतरेय, तैत्तिरेय आदि अनेक शाखाओंमें विभक्त हैं। देव, मनुष्य, पशु तथा वर्ण आश्रम आदिकी व्यवस्था एवं कर्म आदिके यथावत् स्वरूपका प्रतिपादन, इन सबका बिशद वर्णन वेदोंमें है, क्योंकि वेद ज्ञानकी राशि हैं। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' (बृह० २।४।१०) (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महान् सद्रूप ब्रह्मके निःश्वास हैं) इस श्रुतिसे सिद्ध होता है कि जैसे निःश्वास पुरुषकी स्वाभाविक क्रिया है, वैसे ही वेदोंकी रचना भी ईश्वरकी निःश्वासकी भाँति स्वाभाविक क्रिया है अर्थात् ईश्वरको वेदोंकी अभिव्यक्तिमें किञ्चिदपि प्रयास नहीं होता। सर्वज्ञ परमेश्वर अपने सत्य संकल्पसे सृष्टिके आरम्भमें पहले ब्रह्मा आदिके अन्तःकरणमें वेदोंका आविर्भाव (अभिव्यक्ति) करता है। अनन्तर वे ही वेद हमें आचार्य परम्परासे उपलब्ध होते हैं। इससे सुतरां वेदोंका कर्ता ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा पूर्व कल्पके अनुसार वेदोंका स्मरण करना ही वेदोंकी मानो नई रचना है, यह प्रथम वर्णक है।

वैसे ही वैदिक पदार्थोंका कोश निघन्टु है। उसमें तीन काण्ड हैं, नैघन्टुक ३ अध्याय, नैगमिक १ अध्याय और देवता काण्ड १ अध्याय। उसपर यास्कमुनिका भाष्य है, जो निरुक्त नामसे प्रसिद्ध है। इसमें १२ अध्याय हैं। इसके आगे परिशिष्ट दो और अध्याय हैं। छन्द—चारों वेदोंमें गायत्री आदि छन्दोबद्ध मन्त्र होते हैं। वे पिङ्गलनाग विरचित छन्दोविधि शास्त्रद्वारा जाने जाते हैं। ज्योतिष—याग आदि कर्मोंमें समयका निर्धारण करते हुए ज्योतिष शास्त्र वेदका उपकारक है।

इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। * उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३॥

(* समन्वयाधिकरणम् सू० ४)

* कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वशास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्; अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्; उपास-

---

यथार्थस्वरूपके ज्ञानमें योनि-कारण-प्रमाण हैं। शास्त्र प्रमाणसे ही यह अधिगत होता है कि जगत्के जन्मादिका कारण ब्रह्म है, यह अभिप्राय है। पूर्वसूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि शास्त्र उदाहृत है। जब पूर्वसूत्र (जन्मादि) में ही (यतो वा) इसप्रकार शास्त्रका उदाहरण देते हुए सूत्रकारने ब्रह्म शास्त्र-योनि (प्रमाणक) है, ऐसा दिखलाया है, तो फिर इस सूत्रका प्रयोजन ही क्या है? कहते हैं—वहाँ पूर्वसूत्रके अक्षरों (अर्थों) से शास्त्रका स्पष्ट ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए जगत्के जन्मादिका केवल अनुमानरूपसे उपन्यास किया है, कोई ऐसी शङ्का करे तो उस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है ॥ ॥

ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है, पुनः यह कैसे कहते हो? क्योंकि 'आम्नायस्य० (वेद क्रियार्थक है, क्रियासे भिन्न सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद वाक्य अनर्थक हैं अर्थात् प्रयोजन रहित हैं) इसप्रकार शास्त्र क्रियापरक दिखलाया गया है, इससे अक्रियार्थक होनेके कारण वेदान्त वाक्य प्रयोजन रहित हैं। अथवा कर्ता तथा देवता आदिका प्रकाशनरूप प्रयोजनवाले होनेसे वेदान्त-वाक्य क्रिया विधिके

सत्यानन्दी-दीपिका

* भगवान् भाष्यकारने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रकी दो व्याख्याएँ की हैं। प्रथम वर्णक (प्रथम व्याख्या) से ब्रह्मका लक्षण कहा गया है कि जगत् तथा ऋग्वेद आदि वेदोंका कारण ब्रह्म है और वह सर्वज्ञ है। इसमें क्या प्रमाण है? क्योंकि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्न तु प्रतिज्ञामात्रेण' (वस्तुकी सिद्धि लक्षण और प्रमाणसे होती है केवल प्रतिज्ञासे नहीं) इसलिए दूसरी व्याख्यासे ब्रह्ममें 'यतो वा इमानि' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुति प्रमाण दिखलाकर जिज्ञासाको पूर्ण किया है। शङ्का—जब (जन्मादि) इस पूर्वसूत्रमें 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुति वाक्योंका उदाहरण देकर ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक कहा गया है, तो फिर 'शास्त्रयोनित्वात्' इस नवीन सूत्रकी रचना क्यों की गई? इसका समाधान 'उच्यते' इत्यादिसे कहते हैं।

* 'जन्माद्यस्य यतः' इस पूर्वसूत्रमें शास्त्र पदका ग्रहण न होनेसे ऐसी शंका हो सकती है कि 'जन्मादि' सूत्रमें जगत्के जन्मादि 'जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटादिवत्' इस अनुमानसे सकर्तृक सिद्ध होते हैं। परन्तु उसका कर्ता कौन है? ऐसा प्रश्न पुनः उठता है, तो इसके समाधानमें 'जगत् सर्वज्ञ-ईश्वरकर्तृकं कार्यत्वात् भूम्यादिवत्' 'जैसे भूमि आदि कार्य हैं, अत. वह सर्वज्ञ ईश्वर कर्तृक हैं, वैसे ही जगद्रूप कार्य भी सर्वज्ञ ईश्वर कर्तृक है'' यह दूसरा अनुमान ही स्वतन्त्ररूपसे विचार करने योग्य है वेदान्त-वाक्य नहीं। इसप्रकारकी शंका निवृत्यर्थं भगवान् सूत्रकारने शास्त्रयोनित्वात्' इस नवीन सूत्रकी रचना की है अर्थात् यहाँ वेदान्त-वाक्य ही विचारके विषय हैं अनुमान नहीं। पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व अनिश्चित है, सिद्धान्तमें वह निश्चित है ॥ ३ ॥

नादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा। नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति; प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठिवस्तुनः; तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्। * अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधि-

अङ्ग हैं, अथवा उपासना आदि अन्य क्रियाओंके विधानके लिए हैं। किन्तु सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन तो [वेदान्तोंका प्रयोजन] सम्भव नहीं है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है और हेयोपादेयसे रहित उसके प्रतिपादन करनेमें पुरुषार्थ भी नहीं है। इसी कारणसे 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों, इसलिए 'विधिना०' (विधि वाक्योंके साथ अर्थवाद आदि वाक्योंकी एक वाक्यता है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य विधेयकी स्तुतिके लिए होते हैं) इसप्रकार स्तुति परक होनेसे सार्थक कहे गए हैं और 'इषे त्वा' (हे इषे! शाखाओ) तुझे अन्नके लिए काटता हूँ) इत्यादि मन्त्र क्रिया तथा उसके साधनोंका अभिधायी होनेसे कर्म सम्बन्धी कहे गए हैं। किसी भी प्रकरणमें विधि वाक्योंके साथ सम्बन्ध प्राप्त किए विना वेद-वाक्योंकी अर्थवत्ता न देखी गई है और न उपपन्न ही है। सिद्ध वस्तुके स्वरूपमें विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि क्रिया विषयक

सत्यानन्दी–दीपिका

* 'आम्नायस्य' इस पूर्वपक्ष सूत्रसे यह अभिव्यक्त किया जाता है कि विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेयात्मक समस्त वेद साक्षात् या परम्परासे यज्ञ आदि क्रियाओं तथा उनके उपकरण अङ्गोंका प्रतिपादक है, जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' 'दध्ना जुहोति' इत्यादि। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वेदभाग-वेदान्त वाक्य याग आदि क्रियापरक नहीं हैं, किन्तु सिद्ध वस्तु ब्रह्मपरक हैं, अतः वे निष्फल हैं अर्थात् अप्रमाणरूप हैं, ऐसी स्थितिमें ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक कैसे हो सकता है?

* 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (अङ्गों सहित स्ववेदका अध्ययन करना चाहिए) इस अध्ययन विधिसे गृहीत वेदान्त–वाक्योंको निष्फल मानना युक्त नहीं है। पू०–यदि वेदान्त-वाक्य साक्षात् क्रिया परक नहीं हैं तो क्रियाके अङ्गभूत कर्ता तथा देवताका ज्ञान कराते हुए क्रियाके अङ्ग हो सकते हैं। जैसे 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें ईश्वर वाचक 'तत्' पद क्रियाके अङ्ग भूत देवताका और जीव वाचक 'त्वम्' पद याग कर्ताका बोधक है। इसप्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पद देवता और कर्ताकी स्तुतिके लिए हैं और 'विविदिषन्ति' (जाननेकी इच्छा करें) आदि श्रुतिवाक्य फलकी स्तुति करते हैं। इसतरह वेदान्तवाक्य कर्ता, देवता तथा फल आदिकी स्तुतिद्वारा क्रियाके अङ्ग होकर सफल होते हैं। सि०—परन्तु कर्मके प्रकरणमें अपठित वेदान्तवाक्य कर्मके अङ्ग कैसे होंगे? पू०—वे उपासना विधिके अङ्ग होंगे। यद्यपि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' श्रुति प्रतिपादित यह अभेद असत् है, तो भी असत् अभेदका अपनेमें आरोपकर अभेदरूपसे उपासना करनी चाहिए। सि०—वेदान्त वाक्योंको श्रुति प्रतिपादित सिद्ध वस्तु ब्रह्म परक न मानकर क्रियापरक माननेमें क्या प्रयोजन है? पू०—प्रयोजन यह है कि सिद्ध वस्तु वेदद्वारा जानने योग्य नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है। वेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अविषय स्वर्ग आदि फल और उनके साधन भूत यज्ञ आदि कर्मोंका प्रतिपादक है। 'अज्ञातज्ञापकत्वं (हि) वेदानां प्रामाण्यम्' (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अज्ञात वस्तुका ज्ञापकत्व ही वेदोंका वेदत्व–प्रामाण्य है) यदि वेद ज्ञात (सिद्ध) वस्तुका वर्णन करे तो वह अनुवादक

संस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा * न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति; क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्राह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते; उच्यते—

होती है, इसलिए कर्ममें अपेक्षित कर्ता तथा देवता आदिके स्वरूपका प्रकाशन करनेसे वेदान्त क्रिया विधिके अङ्ग हैं। यदि अन्य प्रकरणके भयसे यह स्वीकार न किया जाय तो भी स्व (वेदान्त) वाक्योंमें उपलब्ध उपासना आदि कर्म परक हैं। इसलिए ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण नहीं है। ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—

सत्यानन्दी-दीपिका

मात्र होगा, इससे वेदोंमें प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए वेदान्त-वाक्योंको सिद्ध वस्तु परक न मानकर कर्म अथवा उपासनाके लिए मानना युक्त है। तात्पर्य यह है कि हेय तथा उपादेयसे रहित सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन अथवा उसका ज्ञान निष्फल है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है कि दुःख हेय है, अतः उसकी निवृत्तिके लिए प्रवृत्ति होती है और सुख उपादेय है तो उसकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्ति होती है। परन्तु सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म न हेय है और न उपादेय ही, अतः उसका प्रतिपादन निष्फल है। किन्तु याग और उपासना दुःखकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्तिके साधन हैं, अतः उनका प्रतिपादन सफल है, इसलिए वेदान्तोंको भी उनका ही अङ्ग मानना युक्त है।

* यज्ञ आदि अनुष्ठानों में अनुपयोगी वेदान्त वाक्य निष्फल तथा अप्रमाणरूप हैं, इसलिए अप्रमाणरूप वेदान्तवाक्योंसे प्रतिपादित सिद्ध वस्तुका ज्ञान भी निष्फल है। मीमांसा दर्शनमें पूर्व-पक्ष सूत्रका यदि यही अभिप्राय है तो 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) यह वेद वाक्य भी कर्म न होनेसे निष्फल होगा ? मीमांसा दर्शनमें सिद्धान्ती— जैसे † 'देवैर्निरुद्धः सोऽग्निररोदीत्' (देवोंसे निरुद्ध हुआ अग्नि रोया) यह वाक्य अश्रुसे उत्पन्न रजतकी निन्दा द्वारा 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (पुनराधान प्रकरणमें पठित बर्हियागमें यजमानद्वारा ऋत्विजोंके लिए दक्षिणारूपसे रजत नहीं देना चाहिए) इस सफल निषेध वाक्यका अङ्ग है। वेदोंमें याग आदि क्रियाके अप्रतिपादक तथा सिद्ध वस्तुके प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। वे वेद विहित विधेयार्थकी स्तुतिद्वारा अथवा निषिद्धार्थ-की निन्दाद्वारा विधि तथा निषिद्ध क्रियाके अङ्ग होकर सफल होते हैं। अर्थवादके अनन्तर मन्त्रोंका विचार है—'इषे त्वा' इस मन्त्रमें क्रिया पदके अश्रुत होनेसे 'छिनद्मि' क्रिया पदका अध्याहार किया गया है जिससे शाखाके छेदनकी प्रतीति होती है और 'इषे त्वा छिनद्मि' ऐसा मंत्रका स्वरूप सिद्ध होता है। 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि मन्त्रोंमें क्रियाके साधन भूत देवताकी प्रतीति होती है। इस प्रकार श्रुति द्वारा मन्त्रोंका क्रतुमें विनियोग होता है। अब यहाँ सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या वे मन्त्र उच्चारण मात्रसे अदृष्ट फलको उत्पन्नकर यागके उपकारक होते हैं अथवा दृष्टार्थके स्मरणसे उपकारक होते हैं ? यदि मन्त्र दृष्ट अर्थके स्मरण मात्रसे उपकारक हों तो अध्ययन कालमें अवगत मन्त्रके

---

† किसी समय देवासुरसंग्राम होनेपर देवोंने बहुमूल्य वस्तुएँ अग्निको सौंपकर कहा—हे अग्ने ! युद्धमें यदि हम लोगोंका विजय हुआ तो ठीक, नहीं तो ये सब वस्तुएँ उपयोगी सिद्ध होंगी, ऐसा कहकर सब देव युद्धार्थ चले गये। दूसरी ओर अग्नि लोभवश सब वस्तुएँ लेकर चम्पत हो गया, दैववश देवगण विजय पाकर उस स्थानमें अग्निको न देख उसकी खोज की उससे सब वस्तुएँ छीन लीं, तो अग्नि रोया तब उसकी अश्रुधारासे रजत उत्पन्न हुआ।

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—तत्, तु, समन्वयात् ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्व पक्षकी व्यावृत्तिके लिए है । (तत्) वह ब्रह्म स्वतन्त्र रूपसे वेदान्त वाक्योंद्वारा ही अवगत होता है, (समन्वयात्) क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य उसके प्रतिपादनमें तात्पर्यसे समन्वित हैं ।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं

'तु' शब्द पूर्व पक्षके निराकरणके लिए है । सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, तथा जगत्‌की उत्पत्ति,

सत्यानन्दी-दीपिका

अर्थकी स्मृति तो चिन्तन आदिसे भी सम्भव है । इसलिए मन्त्रोंका उच्चारण अदृष्ट फलको उत्पन्नकर उपकारक होता है, यह पूर्व पक्ष है । मीमांसासिद्धान्तमें—'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।४०) (लौकिक तथा वैदिक वाक्यार्थ समान है अर्थात् जैसे लोकमें वाक्य दृष्ट फलरूप अर्थवाला होता है वैसे ही वेदमें भी वाक्यत्व समान होनेसे मन्त्रोंका दृष्टार्थ रूप फल होना चाहिए, इसलिये मन्त्र दृष्टार्थक हैं अर्थात् उच्चारणसे प्रत्यक्ष फलवाले अर्थोंका ज्ञान कराकर यज्ञके उपकारक होते हैं) क्योंकि जब दृष्ट फलका सम्भव हो तो अदृष्टार्थकी कल्पना गौरव मात्र ही है । इसलिए फल विशिष्ट यज्ञ आदि अनुष्ठानोंको जिन क्रियाओं और उनके साधनोंकी अपेक्षा होती है उनका स्मरण मन्त्रोंसे होता है । इस प्रकार मन्त्र कर्मके अङ्ग होते हैं । 'मन्त्रैरेवार्थः स्मर्तव्यः' (मन्त्रोंसे ही अर्थ (देवता आदि) का स्मरण करना चाहिए) इस नियमके अनुसार मन्त्रोंका अदृष्ट फल भी होता है ।

अब प्रसङ्ग वश पदैकवाक्यता तथा वाक्यैकवाक्यताका विचार किया जाता है—अर्थवाद वाक्यमें अनेक पद होनेपर भी उन सबका स्तुति अथवा निन्दा एक ही अर्थ है, इससे अर्थवादवाक्योंको एक पद कहा गया है, इसलिए स्तुति आदि द्वारा अर्थवादकी विधिके साथ पदैकवाक्यता है । मन्त्र और अङ्गवाक्य स्वार्थका बोध कराके विधि वाक्यमें अन्वित होते हैं, इसलिए विधि वाक्योंके साथ वाक्यार्थ ज्ञानद्वारा मन्त्र और अङ्गवाक्योंकी वाक्यैकवाक्यता है । सारांश यह है कि जैसे अर्थवाद वाक्य सिद्ध अर्थका ज्ञान कराते हुए विधेयकी स्तुतिद्वारा विधि वाक्योंके अङ्ग होकर सार्थक होते हैं, वैसे ही वेदान्त वाक्य भी सिद्ध ब्रह्म रूप अर्थका बोध कराते हुए विधिके अङ्ग होकर ही सार्थक हो सकते हैं अन्यथा नहीं, इसलिए वेदान्त वाक्योंको भी विधिका अङ्ग मानना चाहिए ।

* सि०—वेदान्त वाक्योंको अन्य विधिका अङ्ग माननेकी अपेक्षा ब्रह्ममें ही विधि क्यों न मानी जाय ? पू०—'न च' इत्यादिसे कहते हैं—सिद्ध वस्तुमें विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि क्रिया-विषयक होती है । सि०—'दध्ना जुहोति' (दधिसे होम करे) यहाँ सिद्ध वस्तु दधिमें विधि क्यों मानी गई है ? पू०—यह विधि यागरूप क्रियाके लिए है, क्योंकि यागरूप क्रिया द्रव्य और देवताके विना सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए दधि द्रव्य यागरूप क्रिया सिद्ध्यर्थ होनेसे क्रिया ही है । किन्तु ब्रह्म तो निष्क्रिय होनेसे साध्य नहीं है, अतः वेदान्त-वाक्य कर्ममें अपेक्षित कर्ता, देवता आदिके स्वरूपका स्मरण कराते हुए विधिके अङ्ग हो सकते हैं, यह भट्टमत है । अब 'अथ' इत्यादिसे दूसरे पक्षका उल्लेख करते हैं । इसलिए 'शास्त्रयोनित्वात्' इस तृतीय सूत्रसे ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक सिद्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर भगवान् भाष्यकार 'उच्यते' से सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हैं ।

* इस चतुर्थ सूत्रकी विशेषता यह है कि इसमें एक ऐसा हेतु दिया गया है जो कि वेदान्त-

वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम् ? * समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।' 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० २।१।१।१) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२

स्थिति तथा लयका कारण भूत, वह ब्रह्म वेदान्त-वाक्योंसे ही अवगत होता है। कैसे ? समन्वयसे। क्योंकि 'सदेव सोम्य० (हे प्रियदर्शन ! यह सब उत्पत्तिके पहले एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) 'आत्मा वा० (यह सब उत्पत्तिके पहले एकमात्र आत्मा ही था) 'तदेतद्' (तत्—वह मायारूप उपाधिसे बहुत रूपोंको प्राप्त हुआ जो ब्रह्म है, एतद्—यह अपूर्व, (कारण रहित), अनपर (कार्य रहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्यसे रहित), अबाह्य (अद्वितीय) है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है) 'ब्रह्मैवेदम्' (यह अमृत (अविनाशी) ब्रह्म ही आगे है) इत्यादि वाक्य सब वेदान्तोंमे तात्पर्यसे इसी अर्थमें प्रतिपादक रूपसे समनुगत अर्थात् समन्वित हैं। वेदान्त-वाक्योंमें प्राप्त

सत्यानन्दी-दीपिका

वाक्योंकी सार्थकताको स्पष्ट करता हैं। वह हेतु है 'समन्वय'। सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्य समन्वित तात्पर्यसे सिद्ध वस्तु ब्रह्मका ज्ञान कराते हैं। अतः वे न तो कर्मके अङ्ग हैं और न उपासनाके ही, वेदान्त-वाक्योंका मुख्य तात्पर्य ब्रह्ममें है। जैसे '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' सत्य, ज्ञान तथा अनन्त इन पदोंसे एक अखण्ड ब्रह्म ही अवगत होता है। किञ्च उपक्रमादि लिङ्गोंसे भी वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें ही सिद्ध होता है। यथा—'**उपक्रमोपसंहारवभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥**'' उपक्रम (आरम्भ), उपसंहार (समाप्ति) इन दोनोंकी एक वाक्यता, अभ्यास (पुनः पुनः कथन), अपूर्वता (अन्य प्रमाणकी अविषयता), फल (मोक्ष), अर्थवाद (अद्वैतकी स्तुति या द्वैतकी निन्दा द्योतक वाक्य), उपपत्ति (युक्ति) ये तात्पर्यके निर्णायक लिङ्ग हैं। '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' (छान्दो० ६।२।१) (उद्दालक—हे सोम्य ! यह सारा जगत् सृष्टिके पूर्व सत् ही था) इस श्रुति-वाक्यमें 'एव' शब्द नियमका वाचक है, यह ब्रह्मसे जगत्की भिन्न सत्ताका निषेध करता है अर्थात् ब्रह्मसे जगत्की भिन्न सत्ता नहीं है। '**एकमेवाद्वितीयम्**' इस वाक्यमें 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' ये तीन पद क्रमशः, सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदका ब्रह्ममें निषेध करते हैं। इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मका उपक्रमकर '**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**' (छान्दो० ६।८।७) (यह सब आत्मस्वरूप ही है) इस तरह उपसंहार किया है अर्थात् प्रकरणके आरम्भमें तथा अन्तमें एक अद्वितीय ब्रह्मका ही प्रतिपादन है। अभ्यास—'**तत्त्वमसि**' (छान्दो० ६।८।७) (वह तू ही है) इस वाक्यका उपदेश उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति नौ वार किया है। यह पुनरुक्ति भी तात्पर्य निर्णयमें सहायक है। अपूर्वता—'**अत्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति**' (छन्दो० ६।१३।२) हे सोम्य ! जैसे नमक जलमें रहता हुआ भी तुमको नहीं दिखाई देता, निश्चित इसी जलमें है, वैसे ही इस शरीरमें विद्यमान सद्ब्रह्मका प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनुभव नहीं होता, किन्तु वेदान्त वाक्योंसे इसी शरीरमें उसका अपरोक्ष हो सकेगा) '**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**' (बृह० ३।९।२६) ''**नावेदविन्मनोते तं बृहन्तम्**'' इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्ममें अपूर्वता कही गई है अर्थात् ब्रह्म वेदान्तातिरिक्त प्रमाणका विषय नहीं है।

फल—'**आचार्यवान् पुरुषो वेद' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये**' (छान्दो० ६।१४।२) (आचार्यवान् पुरुष ही उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मतत्त्वको जानता है, उसके लिए मोक्ष होनेमें

११) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ताः; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' (बृह० २।४।१३) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः; 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इति

पदोंका ब्रह्मस्वरूपके विषयमें निश्चित समन्वय जान लेनेपर अन्यार्थ (कार्यरूप अर्थ) की कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे श्रुत (श्रुति प्रतिपादितब्रह्म अर्थकी हानि और अश्रुत—श्रुति अप्रतिपादित यागादि क्रिया) अर्थकी कल्पना करनी पड़ेगी। और इन वाक्योंका कर्ताके स्वरूप प्रतिपादनमें तात्पर्य निश्चित नहीं हो सकता। क्योंकि 'तत्केन०' (ब्रह्म विद्या कालमें कौन कर्ता, किस करणसे किस विषयको देखे) इत्यादि श्रुति क्रिया, कारक और फलका निषेध करती है। सिद्ध वस्तु स्वरूप होनेपर भी ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त शास्त्रके विना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता। हेयोपादेय रहित होनेसे ब्रह्मका उपदेश निष्फल है, यह जो कहा

सत्यानन्दी-दीपिका

उतना ही विलम्ब है जबतक उसका शरीर-लिङ्गशरीर पात नहीं होता) इसमें ब्रह्मज्ञानका फल कहा गया है। अर्थवाद—श्वेतकेतुके अभिमान निवृत्तिके लिए पिता उद्दालकने पूछा क्या तुम उसे जानते हो 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति' (छान्दो० ६।१।३) (जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत, अमत मत, अविज्ञात विशेष रूपसे ज्ञात हो जाता है) इत्मादि श्रुति वचन प्रशंसा रूप अर्थवाद है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ० २।१०) (जो मनुष्य इस अद्वैत ब्रह्ममें नानात्व (भेद-सा) देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति वचन निन्दारूप अर्थवाद है। उपपत्ति—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा० ६।१।४,७) (हे सोम्य ! जिस प्रकार मृत्तिकाके पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृण्मय घटादि पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, क्योंकि मृत्तिकामें घटादि नाम और घटादि आकार कल्पित है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है) जैसे घटादिकी अपने कारण भूत मृत्तिकासे भिन्न सत्ता नहीं है, वैसे ही आकाश आदि प्रपञ्च भी कारण ब्रह्मसे भिन्न नहीं है अर्थात् ब्रह्म ही है, यह उपपत्ति है। इस प्रकार प्रत्येक वेदान्तमें कहीं तात्पर्यके बोधक सब लिङ्ग और कहीं अलग-अलग देखनेमें आते हैं। भाष्यस्थ 'आदि' पदसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंका ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त-वाक्योंके तात्पर्यका विषय भले ही ब्रह्म हो, परन्तु उनका अर्थ यागादि रूप कार्य क्यों न हो ? इस शङ्काका 'न च' इत्यादि भाष्यसे समाधान करते हैं।

* यहाँ अर्थवाद न्याय भी ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थवाद वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होता। इसलिए वे यागादि क्रियाके अङ्गभूत द्रव्य, देवता आदिके स्तुत्यर्थक होते हैं। परन्तु 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (जो शब्द जिस अर्थका प्रतिपादक होता है या जिस अर्थमें उसका तात्पर्य होता है, वही उस शब्दका अर्थ होता है) इस न्यायसे भी विरोध होता है। इसलिए 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इन पदोंका तात्पर्य ब्रह्ममें है और उनका अर्थ ब्रह्म ही है। मीमांसकने जो पहले कहा था कि 'जैसे घटादि सिद्ध पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषय होनेसे वेदार्थ नहीं हैं, वैसे सिद्ध ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय होनेसे वेदका अर्थ नहीं हो सकता अर्थात् ब्रह्ममें वेदप्रमाण नहीं है। इसपर 'न च' इत्यादिसे कहते हैं।

* जो यह कहा गया है कि वेदान्त उपासना परक हैं, क्या उनमें देवता आदिके प्रतिपादक

ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु–हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः; हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। नतु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति; एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टम्; तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्। * अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते–यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि

गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्मात्मभावके अवगत होनेसे ही सब क्लेशोंकी निवृत्ति और परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है। यदि देवतादिके प्रतिपादक (प्राण, पञ्चाग्नि आदि) वाक्य वेदान्त वाक्यगत उपासना परक हों तो भी कोई विरोध नहीं है। परन्तु उसी प्रकार ब्रह्म उपासना विधिका अङ्ग नहीं हो सकता। एकत्व ज्ञान हो जानेपर ब्रह्म हेयोपादेय न होनेसे क्रिया, कारक आदि द्वैतकविज्ञानका बाध हो सकता है। एकत्व विज्ञानसे निवृत्त हुआ मिथ्या द्वैतज्ञानका फिर सम्भव नहीं है, जिससे कि ब्रह्म उपासना विधिका अंग प्राप्त हो। यद्यपि वेदान्तसे भिन्न स्थलोंमें अर्थवाद आदि वेदवाक्योंकी विधिके साथ सम्बन्धके विना प्रमाणता देखनेमें नहीं आती, तो भी आत्मज्ञानको आत्मसाक्षात्कार फल पर्यन्त होनेसे ब्रह्म विषयक शास्त्रकी प्रमाणताका खण्डन नहीं किया जा सकता। शास्त्र प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है जिससे कि वह अन्य स्थलोंमें देखे हुए दृष्टान्तोंकी अपेक्षा करे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मशास्त्र प्रमाणक है। इस विषयमें दूसरे (वृत्तिकार)

सत्यानन्दी–दीपिका

प्राण, पञ्चाग्नि आदि वाक्य उपासना परक हैं अथवा सब वेदान्त? प्रथम पक्ष तो 'देवतादि' से अंगीकार करते हैं। परन्तु दूसरा पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि विधि शून्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वेदान्तवाक्य अपने अर्थ प्रतिपादन करनेमें सफल हैं, अतः वे उपासना परक नहीं हो सकते। किञ्च उन वेदान्तवाक्योंके अर्थरूप ब्रह्मको उपासनाका अंग ज्ञानसे पूर्व मानते हो अथवा पश्चात्? ज्ञानके पहले अध्यस्त गुणयुक्त ब्रह्म उपासनाका अंग भले हो, परन्तु तत्त्वज्ञानके अनन्तर नहीं, इसीको 'न तु तथा' इत्यादिसे कहते हैं। 'तथा' अर्थात् प्राणादि देवताके समान।

* 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्रगामी देवता है) 'सोऽरोदीत्' (वह अग्नि रोया) इत्यादि अर्थवाद वाक्य स्तुति या निन्दा द्वारा ही कर्मकाण्डमें विधिसे सम्बद्ध होकर प्रमाणताको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं। परन्तु ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके प्रतिपादक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका प्रामाण्य तो किसी प्रकार भी हटाया नहीं जा सकता। 'वेदान्तः स्वतः प्रमाणं वेदत्वात् स्वर्गकामो यजेत इतिवत्' वेदान्त वेद होनेसे स्वतः प्रमाण है, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्य होनेसे स्वतः प्रमाण हैं। इसलिए वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य अनुमानके अधीन नहीं है। अतएव उनको अपने प्रामाण्यमें किसी दृष्टान्तकी भी अपेक्षा नहीं है। जैसे 'यजेत' इत्यादि विधिवाक्य फलवाले अज्ञात याग और स्वर्गादि प्रयोजनके ज्ञापक होनेसे प्रमाणरूप हैं, वैसे ही वेदान्तवाक्य भी पूर्व किसी अन्य प्रमाणसे अज्ञात जीव ब्रह्मैक्य अर्थका ज्ञान करानेसे प्रमाणरूप हैं। इसप्रकार सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य एक अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वित हैं, अतः ब्रह्ममें वेदान्त शास्त्र ही प्रमाण है। इसका विशेष विवेचन 'गतिसामान्यात्' (ब्र० सू० १।१।१०) इस सूत्रमें किया जायगा।

प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथा हि-शास्त्रतात्पर्यविद आहुः-* 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्'-(जै० सू० १।१।१) इति। 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्'। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः'-जै० सू० १।१।५) 'तद्भूतानां क्रियार्थेन

पूर्व पक्ष करते हैं। यद्यपि ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक ही है, तथापि प्रतिपत्ति (उपासना) विधिके विषय-रूपसे ही शास्त्र ब्रह्मका बोध कराता है। जैसे कि यूप, आहवनीय आदि अलौकिक पदार्थोंका भी विधिके अङ्ग रूपसे शास्त्र बोध कराता है। ऐसा क्यों? शास्त्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रयोजनवाला है। इस अर्थमें शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले कहते हैं—'दृष्टो हि०' (कर्मोंका ज्ञान कराना ही शास्त्रका दृष्ट फल है) और 'चोदनेति०' (क्रियाका प्रवर्तक वचन चोदना है) 'तस्य०' (धर्मका ज्ञापक अपौरुषेय विधि-वाक्य—स्वर्गकामो यजेत आदि उपदेश है) 'तद्भूतानां० (वेदमें सिद्ध अर्थके वाचक पदोंका

सत्यानन्दी-दीपिका

* ब्रह्म केवल वेदान्त शास्त्र वेद्य है। यह जानकर वृत्तिकार (उपवर्षाचार्य) शंका करते हैं पूर्वपक्षमें उपासनासे मुक्तिरूप फल होता है, वेदान्त सिद्धान्तमें तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति होती है। यद्यपि ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है, तथापि 'आत्मेत्येवोपासीत' यह उपासना विधि है। इस उपासना विधिका विषय ब्रह्म है। उपास्य विना उपासना नहीं हो सकती, इसलिए उपासनाका विधिके विषयभूत ब्रह्ममें भी अवान्तर तात्पर्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य उस उपास्य ब्रह्म स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं। इसका दृष्टान्तसे स्पष्टीकरण करते हैं—जैसे 'यूपे पशुं बध्नाति' (यज्ञ स्तम्भमें पशुको बाँधे) 'आहवनीये जुहोति' (†आहवनीय अग्निमें हवन करे) 'इन्द्रं यजेत' (इन्द्रका यजन करे) इन विधियोंमें यूप आदि क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'यूपं तक्षति' (लकड़ीको तक्षण करता है) अर्थात् लकड़ीको छीलकर आठ कोणवाली बनाता है इस प्रकार संस्कृत लकड़ी यूप कही जाती है। 'अग्निमादधीत' (अग्निका आधान करे) इस प्रकार आधानसे संस्कृत अग्नि आहवनीय है। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (जिसके हाथमें वज्र है वह इन्द्र है, इत्यादि वाक्य विधिके शेष भूत अलौकिक यूप आहवनीय, इन्द्र आदिका प्रतिपादनकर प्रमाणरूप होते हैं अन्यथा नहीं। इसी प्रकार 'आत्मेत्येवोपासीत' आदि विधि शेष आत्माके 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य प्रतिपादक हैं, वे भी अलौकिक ब्रह्मात्माका विधिके अङ्ग रूपसे वर्णनकर प्रमाणभूत होते हैं। परन्तु उपक्रम-उपसंहारादि लिङ्गोंसे वेदान्त शास्त्रका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है तो फिर ब्रह्मको उपासना विधिका अङ्ग क्यों माना जाय? पू०—शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय आप्त वक्ताओंके परम्परा व्यवहारसे होता है। वृद्ध व्यवहारसे यह प्रतीत होता है कि आप्त पुरुष श्रोताकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके उद्देश्यसे शब्दका व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार शास्त्रके भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप प्रयोजन हैं। वह भी विधिज्ञान (कार्य ज्ञान) से उत्पन्न होता है, अतः वेदान्त शास्त्रका भी विधिमें ही तात्पर्य है, ब्रह्ममें नहीं, इसलिए ब्रह्मको भी विधिका अङ्ग मानना चाहिए। इस विषयमें वृद्धोंकी भी सम्मति है।

* 'दृष्टो हि तस्यार्थः' यह शबर स्वामीकी सम्मति है। 'यजेत, जुहोति इत्यादि वाक्य चोदना

† 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणःस्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी' (मनु० २।२३१) (पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिण अग्नि है, गुरु आहवनीय अग्नि है। ये तीन अग्नि सर्वश्रेष्ठ हैं)। गृहस्थके घरमें जो हवन आदिके लिए नित्य अग्नि रहता है वह गार्हपत्य है। इससे अन्य अग्नि ग्रहण किये जाते हैं। 'गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तमुद्धरेत्' (आश्व० श्रौ० २।२) गार्हपत्यसे आहवनीयको जलता हुआ लावे।)

समाम्नायः'– (जै०सू० १।१।२५) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्–' (जै० सू० १।२।१) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। *सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तं कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः; इह तु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति; तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्; कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) इति। 'य आत्माऽपहतपाप्मा',

---

क्रिया वाचक पदोंके साथ उच्चारण करना चाहिए) 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है, अत क्रियासे भिन्न सिद्ध अर्थ प्रतिपादक वेद-वाक्य निष्फल हैं) इसलिए पुरुषको किसी एक विषयमें प्रवृत्त करता हुआ और किसी एक विषय विशेषसे निवृत्त करता हुआ शास्त्र सार्थक होता है और दूसरे वाक्य इसके अंगभूत होकर उपयुक्त होते हैं। उनके साथ समानता होनेसे वेदान्त वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं। यदि [वेदान्त-वाक्य] विधिपरक हों तो जैसे स्वर्ग आदि कामना वाले पुरुषके लिए अग्निहोत्र आदि साधनोंका विधान है, वैसे ही अमृतत्वकी कामना करनेवालेके लिए भी ब्रह्मज्ञानका विधान किया जाता है, ऐसा मानना युक्त है। यदि कहो कि यहाँ जिज्ञास्यका वैलक्षण्य (भेद) कहा गया है, कर्मकाण्डमें साध्य धर्म जिज्ञास्य है और ज्ञानकाण्डमें तो नित्य निवृत्त, सिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है। उनमें अनुष्ठानकी अपेक्षा रखनेवाले धर्मज्ञानके फलसे ब्रह्मज्ञानका फल विलक्षण होना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मविधिसे प्रयुक्त होकर ही ब्रह्म प्रतिपाद्यमान है। 'आत्मा०' (याज्ञ-

सत्यानन्दी–दीपिका

कहलाते हैं। क्रिया, कार्य, कर्म, नियोग, विधि, धर्म और अपूर्व इन सबका एक ही अर्थ है। कहीं तो शास्त्र पुरुषको सुखके साधनमें प्रवृत्त करता हुआ सफल होता है, जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' और कहीं दुःखके साधन सुरापान, हिंसा आदिसे पुरुषको निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है, जैसे 'सुरां न पिबेत्' इसलिए विधि, निषेधात्मक वाक्य ही शास्त्र है। उससे भिन्न अर्थवाद आदि वाक्य विधि तथा निषेध वाक्योंके अङ्ग होकर सार्थक होते हैं। अतः कर्मशास्त्रके समान वेदान्तशास्त्र भी शास्त्र है, इस कारण वेदान्त भी क्रियार्थक होकर सार्थक हो सकता है। परन्तु यज्ञादि क्रियाओंके समान वेदान्तमें अधिकारी और विधेय देखनेमें नहीं आते तो वेदान्तसे कार्यका ज्ञान कैसे होगा ? 'सति च' आदिसे समाधान करते हैं।

* पूर्वपक्षी—'सति विधिपरत्वे' इस भाष्यसे अधिकारी और विधेय सिद्ध करता है, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' यहाँ स्वर्गकी कामनावाला पुरुष अधिकारी है और उनके लिए अग्निहोत्रादि विधेय हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्मभावकामो ब्रह्मवदनं कुर्यात्' (ब्रह्मभावकी कामनावाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे) 'मोक्षकाम आत्मानमुपासीत' (प्रभाकर-मोक्षकी कामनावाला आत्माकी उपासना करे) अर्थात् 'आत्मोपासनेन मोक्षजनकं अदृष्टं सम्पादयेत्' अथवा 'आत्मोपासनजन्यादृष्टेन मोक्षं भावयेत्' (आत्मोपासनासे मोक्ष जनक अदृष्ट संपादन करे अथवा आत्मोपासनजन्य अदृष्टसे मोक्षकी भावना करे) अर्थात् यहाँ अमृतत्वकी कामना करनेवाला पुरुष अधिकारी है और उस फलकी प्राप्तिका साधन ब्रह्मज्ञान विधेय है। परन्तु 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इन दोनों सूत्रोंकी आचार्यों द्वारा पृथक् रचनासे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान नित्य फलवाला होनेसे कर्मकी तरह विधेय नहीं है।

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छान्दो० ८।७।१) 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १।४।१५) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिविधानेषु सत्सु–'कोऽसावात्मा, किं तद्ब्रह्म ?' इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः–'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः । * तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् 'सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् । ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् । स्यादेतदेवम्, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, न तु निवर्तते; श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात् । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषय-

वल्क्य—हे मैत्रेयी ! आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) 'य आत्मा०' (आत्मा पापरहित है वह खोज करने योग्य है उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'आत्मेत्ये०' (आत्मा है ऐसी उपासना करे) 'आत्मानमेव०' (ज्ञानस्वरूप आत्माकी उपासना करे) 'ब्रह्मवेद०' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है) इत्यादि विधानोंके होनेपर 'वह आत्मा कौन है ? वह ब्रह्म क्या है ?' ऐसी आकांक्षा होनेपर ब्रह्मके स्वरूपका बोध करानेके लिए 'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतः०' (नित्य सर्वज्ञ और सर्वगत नित्यतृप्त है) 'नित्यशुद्ध०' (ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है) 'विज्ञानं०' (ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है) इत्यादि वेदान्त वाक्य उपयुक्त होते हैं । उस ब्रह्मकी उपासनासे शास्त्र अवगत अदृष्ट मोक्षरूप फल होगा । यदि वेदान्त-वाक्य कर्तव्य विधिके साथ असम्बद्ध होकर वस्तुमात्रका कथन करनेवाले हों तो हानोपादानका असंभव होनेसे 'सप्तद्वीपा वसुमती' (सात द्वीपावली पृथ्वी है) 'यह राजा जाता है' इत्यादि वाक्योंके समान वेदान्त-वाक्य प्रयोजन रहित हो जायंगे । परन्तु 'यह रज्जु है सर्प नहीं है' इत्यादि वस्तु मात्रके कथनमें भी भ्रान्तिसे जनित भयकी निवृत्ति द्वारा अर्थवत्ता (सार्थकता) देखी गई है । उसी प्रकार यहाँ प्रसंगमें भी असंसारी आत्मवस्तुके कथनसे संसारित्व भ्रान्तिकी निवृत्ति द्वारा सार्थकता होगी । ऐसा तभी हो सकता है जब कि रज्जु-रूप वस्तुके श्रवणसे जैसे सर्प-भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूपके श्रवणमात्रसे श्रोताकी संसारित्व-भ्रान्ति निवृत्त हो । परन्तु वह निवृत्त नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मका श्रवण करनेवाले व्यक्तिमें भी पूर्वके समान सुख-दुःखादि संसारिधर्म देखनेमें आते हैं । अतएव 'श्रोतव्यो०' (आत्मा श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है) इस प्रकार श्रवणके उत्तरकालके मनन और निदिध्यासनकी विधि देखनेमें आती है । इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि उपासना

सत्यानन्दी–दीपिका

* यदि ज्ञानसे मुक्ति होती तो श्रवणसे उत्पन्न ज्ञानके अनन्तर मनन और निदिध्यासनका विधान न होता । प्रत्यक्ष अनुभव और मननादिके विधानसे यह सिद्ध होता है कि वेदान्तोंके श्रवण मात्रसे मोक्ष नहीं होता, किन्तु ब्रह्मकी उपासनासे होता है । प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप फलके प्रतिपादक वाक्य ही शास्त्र कहलाते हैं । परन्तु सिद्ध अर्थ ब्रह्मके प्रतिपादक वेदान्त वाक्य प्रवृत्ति निवृत्ति रहित होनेसे तथा श्रवणानन्तर मननादिकी विधि होनेसे उपासना विधिके अङ्ग हैं । उपासना भी एक प्रकारसे कर्म है, अतः कर्म रूपसे ही शास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है । यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है ।

तथैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति । * अत्राभिधीयते-न; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१) इति सूत्रिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे । * मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते । धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतार-

---

विधिका विषय होनेसे ही ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं ऐसा नहीं है, क्योंकि कर्म और ब्रह्मविद्याके फलमें वैलक्षण्य है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृतिमें धर्म नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस विषयक जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (वेदाध्ययनके अनन्तर धर्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। इस सूत्रमें प्रतिपादित है। इसके साथ ही परिहारके उद्देश्यसे वर्णित प्रतिषेध चोदनात्मक होनेसे हिंसा आदि रूप अधर्म भी जिज्ञास्य है। और इस चोदनात्मक अर्थ और अनर्थरूप धर्माधर्मका शरीर, वाणी और मन द्वारा उपभुज्यमान तथा विषयेन्द्रिय संयोगसे जन्य प्रत्यक्ष सुख-दुःखरूप फल ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त सबमें प्रसिद्ध ही है। मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी शरीर धारियोंमें सुखका तारतम्य श्रुति कहती है। उससे सुखके साधनभूत धर्मका तारतम्य ज्ञात होता है। धर्मके तारतम्यसे अधिकारीका तारतम्य अवगत होता है। किञ्च फल कामना एवं द्रव्य-रूप सामर्थ्य आदि कारणोंसे तो अधिकारीका तारतम्य प्रसिद्ध है। और इस प्रकार यागादि अनुष्ठान करनेवाले लोग ही उपासना रूप समाधि विशेषके बलसे उत्तर मार्गसे जाते हैं, तथा केवल इष्ट, पूर्त और दत्त रूप साधनोंसे सम्पन्न पुरुष धूमादि क्रमसे दक्षिण मार्गके द्वारा जाते हैं। वहाँ भी सुखका तारतम्य और इसके साधनोंका तारतम्य यह सब 'यावत्संपातमुषित्वा० (वहाँ कर्मोंका क्षय होने तक

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'मोक्षकामो ब्रह्मवेदनं कुर्यात्' इस प्रकार जो मुमुक्षु अधिकारीके लिए ब्रह्मज्ञान विधेय कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप नित्य मोक्ष उपासना आदि किसी विधिसे जन्य नहीं है। कर्मोपासनादिका फल जन्य होनेसे अनित्य है। इस प्रकार दोनोंमें वैलक्षण्य है। किञ्च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि वाक्योंसे जैसे धर्म जिज्ञास्य है, वैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि निषेधात्मक वाक्योंसे अधर्म भी जिज्ञास्य है। इस प्रकार विधि तथा निषिद्ध वाक्योंसे धर्म और अधर्म का समानरूपसे ज्ञान होता है। धर्मका फल सुख और अधर्मका फल दुःख ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सब प्राणियोंमें प्रसिद्ध है।

* धर्म तथा उपासना जन्य सुखका तारतम्य इस प्रकार है। सर्व प्रथम मानवीय स्तरके पूर्ण आनंदको श्रुति दिखलाती है—'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवास्यात्साधु युवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः' (तै० २।८।१) अब यह [ब्रह्मके] आनन्दकी मीमांसा है—साधु स्वभाव वाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ और बलिष्ठ हो, एवं उसकी यह धन धान्यसे पूर्ण पृथिवी भी हो अर्थात् वह सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डलका एकमात्र छत्रपति हो उसका जो आनंद है वह एक मानुष आनन्द है वह आनन्द मनुष्यलोकमें मानवीय स्तरका पूर्ण आनन्द कहा जाता है। मनुष्य, मनुष्य गन्धर्व, देव गन्धर्व,

तम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्संपातमुषित्वा' (छान्दो० ५।१०।५) इत्यस्माद् गम्यते। तथा * मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्त-द्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादि-

रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं) इस शास्त्रसे स्पष्ट अवगत होता है। इस प्रकार मनुष्य आदिसे लेकर नारकीय एवं स्थावर पर्यन्त जीवोंमें तारतम्यसे वर्तमान सुखलव चोदनात्मक धर्मसे ही जन्य ज्ञात होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगत तथा अधोगत देहधारी जीवोंमें दुःखका तारतम्य देखनेसे उसके हेतु भूत प्रतिषेध चोदनात्मक (प्रतिषेध प्रवर्तक वाक्योंसे बोधित) अधर्मका और उसके अनुष्ठान करनेवालोंका तारतम्य ज्ञात होता है। एवं अविद्या आदि दोष विशिष्ट जीवोंके धर्म और अधर्मके तारतम्यसे शरीर ग्रहण पूर्वक सुख

सत्यानन्दी-दीपिका

अग्निस्वात् आदि पितर, आजानदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति पर्यन्त पूर्व पूर्वसे उत्तरोत्तर सौ गुना आनन्द प्राप्त होता है। 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः। स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' (तै० २।८।४) (प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्माका एक आनन्द है और वह अकामहत ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियको भी प्राप्त है) इस प्रकार मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त आनन्दका तारतम्य श्रुतिमें कहा गया है। मोक्ष फल तो नित्य निरतिशय आनन्द स्वरूप एक है और मोक्षका साधन तत्त्वज्ञान भी एक ही है। इस प्रकार कर्म और विद्याके फलोंमें महान् अन्तर है। मोक्षका साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी भी एक ही प्रकारका है। किन्तु कर्म अनेक, उनके फल अनेक तो स्वभावतः उसके अधिकारी भी अनेक हैं। किञ्च याग तथा पञ्चाग्नि विद्याके उपासक अर्चि मार्गद्वारा ब्रह्मलोकको जाते हैं। कल्पपर्यन्त फिर इस मानव लोकको प्राप्त नहीं होते।

'अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥१॥
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥२॥
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥३॥

(अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदोंका संरक्षण, अतिथि सत्कार और वैश्वदेव 'इष्ट' कहलाता है। बावड़ी, कुआँ, तालाब, देवालय और बाग बनवाना तथा अन्नदान करना 'पूर्त' कहलाता है। शरणागतकी रक्षा करना, प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाना और वेदीके बाहर दान देना 'दत्त' कहलाता है) इत्यादि कर्मोंका कर्ता देह त्यागके अनन्तर "धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते" (गी० ८।२५) (धूम आदि मार्ग द्वारा धूमसे रात्रि, कृष्ण-पक्ष, दक्षणायन, षण्मास, पितृलोक, आकाशसे चन्द्रलोकको प्राप्त होता है) इस प्रकार मनुष्य लोकसे ऊपर-ऊपर लोकोंमें गये जीवोंमें सुखका उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाकर अब इससे निम्नतर लोकोंमें गये जीवोंमें सुखका तारतम्य 'तथा' इत्यादिसे कहते हैं।

* जैसे मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त तारतम्यसे वर्तमान सुख धर्मके तारतम्यसे है, वैसे मनुष्यसे लेकर नरक पर्यन्त तारतम्यसे वर्तमान सुख भी धर्मसे ही है। विषयेन्द्रिय जन्य सुख तो नारकीय जीवोंको भी उपलब्ध है। अब 'तथोर्ध्वम्' इत्यादि भाष्यसे दुःख, उसका हेतु और उसके अनुष्ठान करनेवालोंका भेद कहते हैं। अब द्विविध कर्म फलोंका उपसंहार करते हैं—अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) आदि दोष युक्त जीव धर्म और अधर्मके

दोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छान्दो० ८।१२।१) इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। * 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छान्दो० ८।१२।१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न; तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (काठ० १।२।२१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृह० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्। * तत्र किंचित्परिणामिनित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते; यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः * इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योम-

---

दुःखका तारतम्य अनित्य संसाररूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्यायमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'न ह वै सशरीरस्य०' (निस्सन्देह उस सशरीर आत्माके सुख दुःखका विनाश नहीं होता) यह श्रुति यथावर्णित संसाररूपका अनुवाद करती है। 'अशरीरं वाव०' (देहादि अभिमान रहित आत्माको मिथ्या देह सम्बन्धी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुतिसे प्रिय और अप्रिय सम्बन्धके प्रतिषेधसे मोक्ष नामक शरीर रहित अवस्था चोदनात्मक धर्मका कार्य है इसका प्रतिषेध किया गया है, ऐसा अवगत होता है। मोक्षको धर्मका कार्य मानें तो उसमें प्रियाप्रिय स्पर्शका प्रतिषेध अनुपपन्न है। यदि कहो कि अशरीरत्व ही धर्मका कार्य हो तो यह युक्त नहीं है' क्योंकि 'अशरीरं०' (जो देवादि शरीरोंमें शरीर रहित तथा अनित्योंमें नित्य स्वरूप है, उस महान् और सर्व व्यापक आत्माको [मैं ब्रह्म हूँ] जानकर विद्वान् शोक नहीं करता) 'अप्राणो०' (प्राण रहित, मन रहित, शुद्ध है) 'असङ्गो०' (यह पुरुष असङ्ग है) इत्यादि श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि अशरीरत्व उसका स्वभाव है। अतएव अनुष्ठेय कर्मफलसे विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध हुआ। [नित्य भी दो प्रकारका होता है परिणामी नित्य तथा पारमार्थिक नित्य] इन दोनोंमें परिणामी नित्य वह है जिसके विकृत होनेपर भी 'वही यह है' ऐसी प्रतिज्ञारूप बुद्धिका नाश नहीं होता। जगत्को नित्य माननेवालोंके मतमें जैसे पृथ्वी आदि परिणामी नित्य हैं। और सांख्योंके मतमें जैसे गुण परिणामी नित्य हैं। परन्तु यह (ब्रह्म)

सत्यानन्दी-दीपिका

तारतम्यसे शरीर ग्रहण द्वारा अनित्य संसारको प्राप्त कर सुख दुःखका अनुभव करता है। 'तस्मिन्यावत्संपातं' इत्यादि श्रुति, ''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'' इत्यादि स्मृति और कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है, जैसे वृक्षके नाशसे फल, छायादिका नाश होता है, वैसे धर्माधर्मके नाश होनेसे तज्जन्य शरीर और शरीरद्वारा भोग्य सुख दुःख आदिका भी नाश हो जाता है, इत्यादि न्यायमें प्रसिद्ध है। किन्तु मोक्ष नित्य, निरतिशय, अतीन्द्रिय और शोकादिसे रहित है, अतः वह कर्मका फल नहीं है। * 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं यदभावे यदभावः' यह अन्वय-व्यतिरेक है अर्थात् शरीर आदि अनात्माभिमान हो तो सुख-दुःखादि हों, शरीर आदि अनात्माभिमान न हो तो सुख दुःखादि भी न हों, यह अभिप्राय श्रुतिमें प्रतिपादित है। आत्मरूप मोक्ष नित्य होनेपर भी परिणामी होनेके कारण धर्मका कार्य हो सकता है, ऐसी शङ्काके होनेपर 'तत्र' इत्यादिसे नित्यका भेद दिखलाते हैं।

* जो परिणामी और नित्य हो वह परिणामी नित्य कहलाता है। पूर्व रूपका परित्याग कर दूसरे रूपको प्राप्त करनेका नाम परिणाम है। जैसे पृथ्वी किसी समय घास, वृक्षादि अवस्थाको प्राप्त

वत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम्, स्वयञ्ज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' (कठ० २।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः। अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

तो पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाशके समान सर्वव्यापक, सभी विक्रियाओंसे रहित, नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वरूप है। जिस परमात्मामें धर्माधर्म, सुख दुःख रूप कार्यके साथ तीनों कालोंमें भी सम्बन्ध नहीं रख सकते। 'अन्यत्र धर्माद०' (जो धर्माधर्म, कार्य कारण, भूत भविष्यत्से भिन्न है) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध मोक्ष नामक अशरीरत्व है। इसलिए कर्मफलसे विलक्षण होनेके कारण वह अशरीर मोक्ष ब्रह्म है जिसकी यह जिज्ञासा प्रस्तुत है। यदि वह (ब्रह्म) कार्यके अङ्गरूपसे उपदिष्ट हो और उस कार्यसे मोक्ष साध्य स्वीकृत किया जाय तो वह अनित्य ही होगा। मोक्षके अनित्य सिद्ध होनेपर तारतम्य (न्यूनाधिक) से वर्तमान यथोक्त अनित्य कर्मफलोंमेंसे कोई अतिशय मोक्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु सब मोक्षवादी यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। इस कारण कार्यके अङ्गरूपसे ब्रह्मका उपदेश युक्त नहीं है। और 'ब्रह्म वेद०' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म

सत्यानन्दी-दीपिका

होकर पुनः उनके विनाश होनेपर मृत्तिका आदिकी अवस्था प्राप्त करती है। उत्पत्ति और विनाश दोनों अवस्थाओंमें 'पृथ्वी है' ऐसी बुद्धि बनी रहती है, इसलिए पृथ्वी परिणामी नित्य है। इसी प्रकार प्रायः सब द्रव्य पदार्थ परिणामी नित्य समझने चाहिए। क्या उस वस्तुका सर्वात्मना परिणाम है अथवा एक देशका? यदि सर्वात्मना परिणाम मानें तो मूल वस्तुका ही नाश हो जायगा। यदि एक देश रूपसे मानें तो वह मूल वस्तुसे भिन्न है कि अभिन्न? यदि भिन्न है तो उसका परिणाम कैसे होगा? क्योंकि अन्यके परिणामसे अन्यका परिणाम नहीं होता। यदि मानें तो अतिप्रसङ्ग होगा। यदि अभिन्न है तो मूल वस्तुका हीं नाश हो जायगा, इसलिए परिणामी नित्यता वास्तविक नहीं है। सांख्यमतमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रलयमें साम्यावस्थामें रहकर प्रधान कहलाते हैं, सृष्टिकालमें गुणोंकी विषमता तथा स्वप्रधानताके अनुसार सुख-दुःख मोहादि प्रपञ्चरूपसे परिणामभावको प्राप्त होते हैं, इसलिए दोनों अवस्थाओंमें गुण अनुस्यूत हैं अर्थात् सत्त्व गुण स्वप्रधानतासे सुखाकार, रजोगुण स्वप्रधानतासे दुःखाकर और तमोगुण स्वप्रधानतासे मोहाकार परिणामको प्राप्त होते हैं।

* आत्माको कूटस्थ, नित्य, व्यापक आदि कहकर उत्पत्ति आदि सब विक्रियाओं (विकारों) का निषेध किया गया है। उत्पाद्य, प्राप्य, विकार्य तथा संस्कार्य ये क्रियाके फल हैं। कूटस्थ शब्दसे उत्पाद्यका सर्वव्यापी शब्दसे आप्यका, सर्व विक्रिया रहित शब्दसे विकार्यका तथा निरवयव शब्दसे संस्कार्यका क्रमशः निषेध किया गया है। क्योंकि यह सब परिच्छिन्न सावयवमें होते हैं। 'व्योमवत्०' यह दृष्टान्त परमत (न्यायमत) को लेकर कहा गया है, वेदान्त सिद्धान्तमें तो आकाश भी कार्य होनेसे अनित्य है। मोक्षावस्थामें आत्माको जड़ माननेवालेके मतका 'स्वयं ज्योतिः' शब्दसे खण्डन किया गया है। क्योंकि 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको स्वप्रकाश स्वरूप कहती है। इस प्रकार कर्मके अनित्य फलसे भिन्न मोक्षरूप फल नित्य ब्रह्मस्वरूप है जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

(मुण्ड० ३।२।९) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।९) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृह० ४।२।४) । 'तदात्मानमेवावेदेदं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (वाजसनेयिब्राह्मणोप० १।४।१०) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः **श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।** * **तथा** 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृह० १।४।१०) **इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम् । यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते।** 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्रश्न० ६।८) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छान्दो० ७।१।३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छान्दो० ७।२६।२) **इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति ।** * **तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोप-**

ही होता है) क्षीयन्ते चास्य०' (उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं) 'आनन्दं०' (ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता) 'अभयं०' (याज्ञवल्क्य—हे जनक ! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है) 'तदात्मन०' (अज्ञानके निवृत्त होनेके कारण जीव संज्ञक ब्रह्मने गुरुके उपदेशसे अपनेको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना, अतः वह सर्व हो गया) 'तत्र को मोहः०' (उस समय एकत्वका अनुभव करनेवाले उस विद्वान्को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानके अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुई ब्रह्मज्ञान और मोक्षके मध्यमें कार्यान्तरका निषेध करती हैं । इसी प्रकार 'तद्धैतत्०' (वह ब्रह्म मैं—प्रत्यगात्मा हूँ, ऐसा ज्ञान प्राप्तकर मुनीन्द्र वामदेव शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हुए अर्थात् उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषिवामदेवने जाना—मैं मनु हुआ और सूर्य भी) इस श्रुतिको ब्रह्मदर्शन तथा सर्वात्मभावके मध्यमें अन्य कर्तव्यका निषेध करनेके लिए उदाहरणरूपसे समझना चाहिए । जैसे 'खड़ा होकर गायन करता है' इसमें खड़े होने और गायन क्रियाके मध्यमें तत्कर्तृक अन्य कार्य नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है । [सुकेश भारद्वाज आदि छः ऋषियोंने पिप्पलाद गुरुसे कहा—] 'त्वं हि०' (तुम ही तो हमारे पिता हो जो हमें अविद्याके परपार पहुँचा दिया है) 'श्रुतं ह्येव०' (मैंने भगवत् तुल्य आप जैसोंसे सुना है कि आत्मवित् शोकको पार कर लेता है अर्थात् शोकसे मुक्त हो जाता है, और हे भगवन् ! मैं शोक करता हूँ, ऐसे मुझको आप शोकसे पार-मुक्त कर दीजिए ऐसा नारदने कहा) 'तस्मै०' (भगवान् सनत्कुमारने उस दग्ध पाप नारदको अज्ञानरूपी अन्धकारसे पार (ब्रह्म) दिखलाया) इत्यादि श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्षके प्रतिबन्ध (अज्ञान) की निवृत्तिमात्र आत्मज्ञानका फल है ।

सत्यानन्दी-दीपिका

ब्रह्मज्ञान और कर्मज्ञानमें अन्तर यह है कि केवल कर्मज्ञानसे स्वर्ग आदि फलकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु कर्मज्ञान और उसके फलके मध्यमें अनुष्ठेय याग आदि कर्म करने पड़ते हैं । उनका फल कालान्तर वा जन्मान्तरमें होता है । परन्तु यहाँ तो इसके विपरीत है, जैसे प्रदीपसे अन्धकारकी निवृत्तिरूप दृष्ट फलमें अन्य कर्तव्य अवशेष नहीं है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान और मोक्षरूपी दृष्ट फलके मध्यमें भी कुछ अन्य कर्त्तव्य नहीं है । ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष यदि कालान्तरमें माना जाय तो 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि श्रुतियोंका बाध होगा, जो सर्वथा असङ्गत है । 'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरती सोम्य०' (मुण्ड २।१।१०) (जो इस गुहामें

बृंहितं सूत्रम्–'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२) इति । मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति । * न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्, यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृह० ३।१।९) इति । न चाध्यासरूपम्, यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छान्दो० ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छान्दो० ३।१९।१) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । * नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' (छान्दो० ४।३।१) 'प्राणो वाव संवर्गः'

उसी प्रकार (दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, धर्म, अधर्म, दोष एवं मिथ्याज्ञान इनमें कारणरूप उत्तर-उत्तरका नाश होनेसे उसके पूर्व-पूर्व कार्यका नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है) इस प्रकार युक्तियोंसे पुष्ट आचार्य गौतम प्रणीत यह सूत्र है । मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे होती है । यह ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान सद्रूप नहीं है, जैसे अनन्तं वै०' (मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं) इसलिए मनमें अनन्त विश्वेदेवोंकी दृष्टि करनेके कारण वह अनन्तलोकको जीतता–प्राप्त करता है), यह ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान अध्यासरूप भी नहीं है, जैसे 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे) 'आदित्यो ब्रह्म०' (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है) इस प्रकार मन और आदित्यादिमें ब्रह्मदृष्टि अध्यासरूप है । 'वायुर्वाव०' (वायु ही

सत्यानन्दी-दीपिका

स्थित गुप्त ब्रह्मको जानता है, हे सोम्य ! वह अविद्याकी गाँठ (चिद्-जड़ ग्रन्थि) को तोड़ता है) । मोक्षका प्रतिबन्धक अज्ञान है, वह तत्त्वज्ञानसे ही निवृत्त होता है । अतः मोक्षके प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति करना ही आत्मज्ञानका प्रयोजन है अन्य नहीं, क्योंकि आत्मा तो स्वयं प्रकाशरूप है । इस विषयमें मुनि गौतमके सूत्रको उद्धृत करते हैं ।

* इस गौतम सूत्रमें जन्म ही साक्षात् दुःखका कारण कहा गया है, क्योंकि जन्म होनेसे ही सुख दुःखका अनुभव होता है । विषय जन्य सुख भी परिणाममें दुःखका कारण है । ['ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' (गी० ५।२२) (जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे दुःखके ही हेतु हैं) अतः सुखको भी दुःख शब्दसे वर्णित किया है । जन्मका कारण धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति है । धर्माधर्मकी प्रवृत्ति राग द्वेषादि दोषोंसे होती है, दोष मिथ्याज्ञानसे होते हैं । मिथ्याज्ञान ही राग द्वेषादि दोषोंद्वारा संसारका मूल कारण है । मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है । 'तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः' (गौ० सू० १।१।२) (तत्त्व ज्ञानसे ही मोक्ष होता है अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता) इतने अंशमें ही सूत्रकी सम्मति दी गई है । गौतम अभिमत तत्त्वज्ञान और मोक्ष वेदान्त-सिद्धान्तमें स्वीकृत नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थोंके ज्ञानको तत्त्वज्ञान मानते हैं ।

* पूर्वपक्षी—जैसे 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इस श्रुतिमें भेदज्ञान मृत्युका कारण प्रतिपादित होनेसे प्रमा नहीं है, वैसे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान प्रमा न होकर सम्पदादि (उपासना) रूप है, अतः वह भ्रान्ति रूप है । 'आरोप्य प्रधाना संपत्' (आलम्बनको अविद्यमान-सा मानकर आरोप्य प्रधान सम्पत् उपासना कहलाती है) जैसे कि काम, सङ्कल्प आदि अनन्त वृत्तिवाला होनेसे मन अनन्त कहा जाता है, वैसे विश्वेदेवता भी अनन्त हैं । इस प्रकार दोनोंमें आनन्त्य समान है । इससे विश्वेदेवता ही मन है । मनकी विश्वेदेवतारूपसे उपासना करनेसे उपासकको अनन्त लोककी प्राप्ति होती है । वैसे चैतन्य धर्म जीव और ब्रह्ममें समान है, इसलिए अल्प जीवको महान् ब्रह्मरूप सम्पादनकर जीवरूप आलम्बनको अविद्यमानकर प्रधानरूपसे ब्रह्मका 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुचिन्तन करनेसे अमृतत्व फल प्राप्त होता है, अतः जीव ब्रह्मका एकत्व ज्ञान भी सम्पद्रूप है । सम्पत्

(छान्दो० ४।३।३) इतिवत्। नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्। संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। * 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्ड०

संवर्ग है) 'प्राणो वाव०' (प्राण ही सवर्ग है) इसके समान विशिष्ट क्रिया सम्बन्ध निमित्तक भी नहीं है, और आज्यावेक्षण आदि कर्मके समान कर्माङ्गका संस्काररूप भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानको सम्पदादिरूप माननेपर 'तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंका ब्रह्मात्मैकत्व वस्तु प्रतिपादन परक पद समन्वय बाधित हो जायगा। 'भिद्यते०' (ब्रह्मका साक्षात्कार कर

सत्यानन्दी-दीपिका

उपासनामें आरोप्य प्रधान और आलम्बन (आधार) गौण होता है। 'आलम्बनप्रधानः प्रतीकः' (जहाँ आलम्बन प्रधान और आरोप्य गौण हो वह प्रतीकोपासना कहलाती है) उसको अध्यास भी कहते हैं। यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (ब्रह्म भावनासे मनकी और आदित्यकी उपासना करे) यह प्रतीकोपासना है। जैसे शालिग्रामकी विष्णुरूपसे, शिवलिङ्गकी शङ्कररूपसे, ॐ की ब्रह्मरूपसे उपासना प्रतीकोपासनाके उदाहरण हैं। जैसे विष्णुके अभाववाले शालिग्राल शिला आदिमें विष्णु बुद्धि अध्यास ही है। 'अतस्मिन् तद्बुद्धिरध्यासः' (अतद्में तद्बुद्धिको ही अध्यास कहा जाता है) यह अध्यासका लक्षण इन सब स्थलोंमें घटता है, अतः वे अध्यासरूप ही है। परन्तु ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान सम्पद्रूप तथा अध्यास रूप नहीं है।

* जैसे 'वायुर्वाव संवर्गः' प्रलयकालमें अग्नि, सूर्य चन्द्रमा और जल ये सब वायुमें विलीन होते हैं, इन सबका वायु ही ग्रसन करता है। यह अधिदैवत संवर्ग है। 'अध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गो यदा वै पुरुषः स्वपिति' (शरीरान्तर संचारी अध्यात्म प्राण संवर्ग है, जब पुरुष सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन आदि सब इन्द्रियाँ प्राणमें लीन होती हैं) 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) (ये दो संवर्ग हैं, अग्नि आदि देवोंमें वायु और वागादि इन्द्रियोंमें प्राण) इसलिए वायु और प्राणमें संहरणरूप क्रियाका योग समान होनेपर दोनोंमें संवर्गत्व समान है। इस प्रकार वायु और प्राणकी संवर्गरूपसे अभेद उपासना करनी चाहिए। वैसे ही वृद्धिरूप क्रियाके योगसे 'जीव ब्रह्म है' यह अभेदज्ञान अमृतत्व फलके लिए है। वास्तवमें जीव और ब्रह्मका भेद ही है अभेद नहीं। जो अभेद मानते हैं वे भ्रान्त है। अब अन्य मतका उल्लेख करते हैं, जैसे 'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति' दर्शपूर्णमास यागके प्रकरणमें उपांशु यागके अङ्गभूत घृतको यजमानकी पत्नी देखे। यहाँ यजमानकी पत्नीद्वारा घृत देखनेका विधान है, क्योंकि उसके देखनेसे घृतका संस्कार हुआ माना जाता है। इससे घृतमें विशेष गुणका आधान होता है अर्थात् अदृष्ट विशेष उत्पन्न होता है। यह वैदिक उदाहरण है। लौकिक उदाहरण भी है—बीज पूरकुसुम (अन्नारका फूल) लाखके रससे अविसिक्त होनेसे लाखके समान रक्तवर्ण विशिष्ट फलको उत्पन्न करता है। यहाँ बीजपूर कुसुममें गुणाधानरूप संस्कार माना जाता है। वैसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि मन्त्र यागके अङ्गरूप कर्तामें ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानरूप संस्कारका विधान करते हैं अर्थात् आत्माके संस्कारके लिए ब्रह्मज्ञानका विधान है। परन्तु पूर्वपक्षका यह कथन युक्त नहीं है, यदि अभेदज्ञानको संस्काररूप गुण, सम्पद्रूप तथा अध्यास (प्रतीकोपासना) विशिष्ट क्रिया योग निमित्त मानें तो 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुति वाक्योंका ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानमें जो निश्चित तात्पर्य है वह बाधित हो जायगा।

२।२।८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन्। तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा। एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। * न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१३) इति च। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० १।४) इति। * अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न; अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (केन० २।३) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं

लेनेपर इसकी हृदय ग्रन्थि टूट जाती है और सब संशय नष्ट हो जाते हैं) इत्यादि अज्ञान निवृत्तिरूप फलके बोधक श्रुतिवाक्य बाधित हो जायँगे। और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि ब्रह्मभाव प्राप्ति प्रतिपादक श्रुतिवाक्य संपदादि पक्षमें मुख्यरूपसे उपपन्न नहीं होंगे। इसलिए ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान संपदादिरूप नहीं है। अतः (ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान विधेय न होनेके कारण) ब्रह्मविद्या पुरुष व्यापारके अधीन नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विषय वस्तु ज्ञानके समान वस्तुके ही अधीन है। ऐसे ब्रह्म और उनके ज्ञानकी किसी भी युक्तिसे कार्यके साथ सम्बन्धकी कल्पना नहीं की जा सकती। विदि (जानना) क्रियाके कर्मरूपसे भी कार्यके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'अन्यदेव०' (यह विदित (कार्य) से अन्य और अविदित (कारण) से भी अन्य है) और 'येनेदं०' (जिसके द्वारा इस सबको जानता है उसे किससे जाने) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें विदिक्रिया कर्मत्वका निषेध किया गया है। उसी प्रकार 'यद्वाचा०' (जो वाणी (शब्द)से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है) इसप्रकार ब्रह्मको इन्द्रियोंका अविषय कहकर 'तदेव०' (उसीको तू ब्रह्म जान, जिसकी लोक उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है) इस श्रुतिसे उपास्ति (उपासना) क्रियाके कर्मत्वका भी ब्रह्ममें प्रतिषेध है। यदि कहो कि इन्द्रियादिका अविषय होनेसे ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाणकत्व अनुपपन्न होगा? तो ऐसा नहीं, क्योंकि शास्त्र तो अविद्यासे कल्पित भेदकी निवृत्तिके लिए है। शास्त्र इदंरूपसे विषयभूत ब्रह्मका प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्मरूपसे अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्यासे कल्पित वेद्य (ज्ञेय) वेदितृ (ज्ञाता), वेदना (ज्ञान) आदि भेदको निवृत्त करता है। जैसे 'यस्यामतं०' (जिसको ऐसा

सत्यानन्दी-दीपिका

* संपदादि भेद घटित होनेसे भ्रान्तिरूप हैं। इसलिए उनसे अज्ञानकी निवृत्ति कदापि नहीं होगी। अज्ञानकी निवृत्ति तो यथार्थ ज्ञान-ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे होती है। इसलिए एकत्व ज्ञान संपदादिरूप नहीं है। *शंका—ज्ञानार्थक सकर्मक 'विद्' धातुसे विद्या शब्द निष्पन्न हुआ है, तब तो ब्रह्म कर्म होगा? समाधान—क्या ब्रह्म विदि क्रियाका कर्म है अथवा उपासनाका? प्रथम पक्ष तो 'अन्यदेव' 'येनेदं' इत्यादि श्रुतिसे बाधित है। द्वितीय पक्ष भी 'तदेव' आदि श्रुतिसे बाधित है।

पश्येः', 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पित-संसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः। * यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च; तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। * न हि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्यं वा घटादि

निश्चय है कि ब्रह्म ज्ञात नहीं है उसे ब्रह्म ज्ञात है अर्थात् उसने ब्रह्मस्वरूपको जाना है और जो ऐसा समझता है कि 'मुझे ब्रह्म ज्ञात है' उसने ब्रह्मको जाना ही नहीं, क्योंकि जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसके लिए ब्रह्म अविज्ञात-विषयरूपसे अज्ञात है, कारण कि ब्रह्म ज्ञानका विषय नहीं है और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए ब्रह्म विषयरूपसे ज्ञात है, क्योंकि ब्रह्मको ज्ञानका विषय समझकर, मैंने ब्रह्म-को जाना है, ऐसा कहते हैं अर्थात् अज्ञानियोंके मतमें ब्रह्म विषय है) और 'न दृष्टेः०' (दृष्टि-इन्द्रिय वृत्तिके साक्षीभूत आत्माको तुम चक्षु आदि इन्द्रियोंसे देख नहीं सकते और बुद्धि वृत्तिके साक्षीको तुम बुद्धिवृत्तिसे नहीं जान सकते) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। अतः शास्त्र तत्त्वज्ञानसे अविद्यासे कल्पित संसारित्वका निवर्तनकर नित्य मुक्त आत्माका यथार्थ स्वरूप समर्पण होनेके कारण मोक्षमें अनित्यत्व दोष नहीं है। जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य है, उसके मतमें मोक्ष मानसिक या वाचिक अथवा कायिक क्रियाओंकी अपेक्षा रखता है, यह ठीक है। इसी प्रकार विकार्यत्व पक्षमें भी, इन दोनों पक्षोंमें मोक्षका अनित्यत्व निश्चित है। लोकमें विकार्य दधि आदि एवं उत्पाद्य घटादिमें नित्यत्व नहीं

सत्यानन्दी-दीपिका

* **शंका**—यदि ब्रह्मको इन्द्रियोंका विषय नहीं मानें तो तृतीय सूत्रद्वारा ब्रह्ममें शास्त्र प्रामाण्य-की प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी? **समाधान**—जीव ब्रह्म एक है, परन्तु उनका अविद्यासे कल्पित भेद प्रतीत होता है। **'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि'** इसप्रकार वेदान्त और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न हुई ब्रह्माकारवृत्ति, जिसे विद्या कहा जाता है उसीसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अविद्या निवृत्त्यात्मक फलवाली होनेसे ब्रह्ममें शास्त्र-प्रामाणिकता निर्विवाद है। वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यकी विषयताका नाम इदन्ता है, इदन्ता माने यह ब्रह्म है। इसप्रकार **"इक्षुक्षीर-गुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्। तथापि न तदाख्यातुं सर्वशक्त्याऽपि शक्यते"** (काव्यादर्श—दण्डी) (साधारण ईख, दूध, गुड़ आदि पदार्थोंके माधुर्य आदि रसोंमें महान् अन्तर है। उनका भी इदन्तारूपसे वर्णन करनेकी सामर्थ्य शब्दमें नहीं है) **'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'** (तै० २।४।१) (मनके साथ वाणी भी जिसे न प्राप्तकर लौट आती है) **'अतद्व्यावृत्त्यायं चकित-मभिधत्ते श्रुतिरपि'** (शिव० म०) (अतदकी व्यावृत्तिकर यह श्रुति जिसका चकित होकर अभिधान करती है) **'नेति नेति'** इत्यादि शास्त्र भी जो ब्रह्म नहीं है, जैसे जड़त्व दुःखत्व, अनित्यत्वादि, उसका **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि कहकर वारण करते हैं। **शंका**—यद्यपि अविद्याकी निवृत्ति करनेसे शास्त्रमें प्रामाणिकता सिद्ध होती है तो भी अविद्याकी निवृत्तिसे जन्य होनेके कारण मोक्ष अनित्य हो जायगा? **समाधान**—तत्त्वज्ञानसे जो अविद्याका ध्वंस (नाश) होता है वह नित्य है, नैयायिक ध्वंसका ध्वंस नहीं मानते, क्योंकि उनके मतमें ध्वंसका ध्वंस भावरूप है। वेदान्त सिद्धान्तमें कल्पितकी निवृत्ति अधिष्ठानस्वरूप मानी जाती है, इसलिए अविद्याका ध्वंस नित्य आत्मस्वरूप है। जैसे रज्जुके ज्ञानसे मिथ्याज्ञानसे कल्पित सर्पकी निवृत्ति रज्जुसे अतिरिक्त नहीं है। शास्त्रसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे अविद्या तथा अविद्यासे कल्पित संसारित्वादिकी निवृत्तिरूप नित्यमुक्त आत्मस्वरूपका आविर्भाव ही तो मोक्ष है, अतः मोक्षमें अनित्यत्व दोष असम्भव है।

नित्यं दृष्टं लोके। नचाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा; स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः, आकाशस्येव। * नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा ? न तावद्गुणाधानेन संभवति; अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन; नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्-न; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा स्वाश्रयक्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मनः

देखा गया है। ब्रह्मज्ञानसे प्राप्य होनेपर भी उसको कार्यकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह स्व आत्मस्वरूप होनेके कारण प्राप्य ही नहीं है। यदि ब्रह्मको स्वरूप (आत्मा) से भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है। कारण—आकाशके समान सर्व व्यापक होनेके कारण ब्रह्म सबको नित्य प्राप्त स्वरूप ही है। और मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है, जिससे वह व्यापारकी अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थमें विशेष गुण लाने अथवा दोष हटानेसे संस्कार होता है। मोक्षमें गुणाधान (विशेष गुणका लाना) से संस्कारका संभव नहीं है, क्योंकि मोक्ष तो आधेयातिशय (अतिशयको लाना) से रहित ब्रह्म स्वरूप है। दोषापनयनसे भी उसका संस्कृत होना संभव नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है। यदि ऐसा कहो कि जैसे घर्षण क्रियासे दर्पण संस्कृत होनेपर अपने भास्वरत्व धर्मसे अभिव्यक्त होता है, वैसे उपासनादि क्रियासे आत्माके संस्कृत होनेपर उसका अविद्यादि मलसे तिरोहित हुआ अपना मोक्षरूप धर्म अभिव्यक्त होता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें क्रियाका आश्रयत्व अनुपपन्न है। जिस आश्रयमें क्रिया रहती है उसको विकृत किये विना वह अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकती। यदि आत्मा स्वाश्रित क्रियासे विकृत हो तो आत्मामें अनित्यत्व प्रसक्त होगा। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (यह आत्मा

सत्यानन्दी-दीपिका

* उत्पत्ति, आप्ति, विकृति तथा संस्कृति इस भेदसे क्रिया चार प्रकारकी है, इसके अनुसार क्रिया जन्य उत्पाद्य, आप्य, विकार्य तथा संस्कार्य इन चतुर्विध प्रकारोंसे भिन्न होनेके कारण मोक्ष उपासना साध्य नहीं है, इसलिए वह अनित्य भी नहीं है। बौद्ध मतमें क्षणिक विज्ञान आत्मा है। उसकी विशुद्ध विज्ञानरूपसे उत्पत्तिको वे मोक्ष मानते हैं, इससे उसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य है। जैन मतावलम्वी संसाररूप अवस्थाका त्यागकर कैवल्य अवस्थाकी प्राप्तिको मोक्ष मानते हैं, अतः वह विकाररूप है। वटादिके समान क्रियाद्वारा उत्पन्न होनेसे दोनों प्रकारके मोक्ष अनित्य हैं। मोक्ष प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह स्व आत्मस्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त है। इसके अतिरिक्त मोक्षको उत्पाद्य आदि माननेवालोंसे हम पूछते हैं कि ब्रह्म जीवसे अभिन्न है कि भिन्न ? इसको 'स्वात्मस्वरूपत्वे' आदिसे कहते हैं।

* जिनके मतमें मोक्ष संस्कार्य है। उनके लिए कहते हैं—संस्कार दो प्रकारसे होता है। एक गुणाधानसे और दूसरा दोषापनयनसे, जैसे यागमें 'ब्रीहीन् प्रोक्षति' (धानका प्रोक्षण करे अर्थात् जलका छींटा दे) प्रोक्षण करनेसे ब्रीहिमें गुणाधानरूप संस्कार होता है और मलिन वस्त्र, दर्पणादिका जलादिसे मलकी निवृत्तिरूप संस्कार होता है। इन दोनोंका 'न तावत्' इत्यादिसे निषेध करते हैं। यदि कहो कि ब्रह्मात्मस्वरूप मोक्ष अनादि अविद्यामलसे आवृत है उपासनासे निवृत्त होनेपर ब्रह्मस्वरूप मोक्ष अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है किन्तु उत्पन्न नहीं होता। तो आत्मामें मल सत्य

प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (भ०गी० २।२५)इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तद्वा-निष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयाऽऽत्मा संस्क्रियते। * ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतधारणादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न; देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम्, 'अहमरोग' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते, एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना 'अहं शुद्धः संस्कृत' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते।

अविकार्य कहा जाता है) इत्यादि वाक्य बाधित होंगे, वह युक्त नहीं है। इसलिए आत्मामें स्वाश्रय क्रियाका संभव नहीं है। अन्य पदार्थ आश्रय क्रियाका आत्मा विषय-सम्बन्धी नहीं है, अतः उससे भी आत्मा संस्कृत नहीं हो सकता। परन्तु देहाश्रय स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत धारण आदि क्रियाओंसे जीवात्मा संस्कृत होता देखा गया है? ऐसा नहीं, क्योंकि देहादि संघात युक्त अविद्यामें प्रतिबिम्बित आत्माका संस्कार होता है। स्नान, आचमन आदि क्रियाओंका सम्बन्ध देहके साथ तो प्रत्यक्ष ही है। जो कोई अविद्यासे देहादि संघातको आत्मरूपसे गृहीत करता है, उसका उस देहाश्रित क्रियासे संस्कृत होना युक्त है। जैसे देहके आश्रित चिकित्सा निमित्तक धातुओंकी समताद्वारा जिस देहाभिमानी आत्मामें 'मैं अरोग हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, देहादिके साथ सम्बन्ध और उसमें 'मैं, मेरा' अभिमान रखनेवाला आरोग्य फल पाता है, वैसे ही स्नान, आचमन, यज्ञोपवीतादिसे 'मैं शुद्ध हूँ, संस्कृत हूँ, ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न हो वही संस्कृत होता है। वह तो देहके साथ सम्बद्ध ही है। 'तयोरन्यः०' (उसमें एक तो स्वादिष्ट कर्म फलको भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ साक्षी-रूपसे रहता है अर्थात् प्रकाशित करता है) 'आत्मेन्द्रिय०' (शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको विद्वान् भोक्ता कहते हैं) इत्यादि श्रुति वाक्योंसे यह स्पष्ट होता है कि 'अहं' प्रतीतिके विषयभूत प्रत्ययी अहंकर्तासे ही सम्पूर्ण क्रियाएँ सिद्ध होती हैं और उनका फल वही भोगता है।

सत्यानन्दी-दीपिका

है अथवा कल्पित ? यदि कल्पित है तो उसकी निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञानसे होती है, जैसे कल्पित सर्पकी निवृत्ति अधिष्ठान रज्जुके ज्ञानसे होती है, किसी अन्य क्रियासे नहीं, इसी प्रकार कल्पित अविद्याकी निवृत्ति भी अधिष्ठान ब्रह्मात्मज्ञानसे होगी उपासनादि क्रियासे नहीं। यदि अविद्यामल सत्य है तो वह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त नहीं होगा अपितु उपासनारूप क्रियासे, तो वह उपासनारूप क्रिया आत्मामें रहती है अथवा आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुमें ? पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि निष्क्रिय आत्मामें क्रियाका संभव नहीं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थके आश्रित क्रियासे आत्माका सम्बन्ध न होनेसे उसका संस्कार संभव नहीं है। 'असङ्गो न हि सज्जते' 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुति वाक्य आत्मामें क्रियादि सम्बन्धका निषेध करते हैं, अतः मोक्ष संस्कार्य नहीं है।

* शंका—अन्याश्रित क्रियासे भी अन्यका संस्कार देखनेमें आता है। जैसे देहाश्रित स्नानादि क्रियाओंसे आत्मामें 'मैं शुद्ध हुआ हूँ' ऐसा संस्कार देखा गया है। समाधान—देहादिसंघातमें तादात्म्याध्याससे आत्मबुद्धि करनेसे ऐसा व्यवहार होता है वस्तुतः यह भ्रान्ति है। किञ्च अविद्या-मलको जो सत्य माना गया है वह तो उपासनादि क्रियाओंसे कदापि निवृत्त नहीं होगा, उसकी निवृत्तिके विना मोक्ष भी सिद्ध नहीं होगा। यदि उसकी उपासनादिसे निवृत्ति मानें तो वह सत्य नहीं होगा, यह अन्य दोष भी है।

स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राऽहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते तत्फलं च स एवाश्नाति; 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) **इति मन्त्रवर्णात्।** 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (काठ० १।३।४)। **इति च। * तथा च** 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११) **इति** 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) **इति चैतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते। * ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न; वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च। यथा**–'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्' **इति,** 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' (ऐ० ब्रा०

इसीप्रकार 'एको देवः०' (सब भूतोंमें एक, स्वप्रकाश, गूढ, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनता प्रदान करनेवाला निर्गुण और शुद्ध आत्मा है) 'स पर्यगात्०' (वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु रहित–स्थूल शरीर रहित और अपापहत है) ये दोनों मन्त्र ब्रह्ममें अनाधेयातिशयता और नित्यशुद्धता दिखलाते हैं। ब्रह्मभाव ही तो मोक्ष है। इसलिए मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। इस कारण मोक्षके प्रति उत्पत्ति, विकृति, आप्ति और संस्कृतिसे भिन्न क्रिया सम्बन्धका द्वार कोई नहीं दिखा सकता। इसलिए मोक्षमें केवल ज्ञानके सिवा क्रियाके लेशमात्रका भी सम्बन्ध उपपन्न नहीं है। परन्तु ज्ञान तो मानसी क्रियाका नाम है? ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान उससे विलक्षण है। वस्तु स्वरूपकी अपेक्षाके विना जहाँ जिसका विधान किया जाता है वह क्रिया है और वह पुरुष संकल्पके अधीन है, जैसे 'यस्यै देवतायै०' (जिस देवताके लिए अध्वर्युने हविका ग्रहण किया हो उस समय होता 'वषट्' शब्दका उच्चारण करता हुआ उसका मनसे ध्यान करे) और 'सन्ध्यां०' (सन्ध्याका

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'एको देवः सर्वभूतेषु' और 'स पर्यगात्' इन मन्त्रोंमें निर्गुणपदसे ब्रह्ममें गुणाधानरूप संस्कारका और शुद्ध पदसे दोषापनयनरूप संस्कारका निषेध किया गया है। इसलिए उत्पत्ति, विकृति, आप्ति और संस्कृति इन चारों क्रियाओंके क्रमशः उत्पाद्य विकार्य, आप्य और संस्कार्य ये चार फल हैं। इनसे भिन्न पाँचवां कोई क्रियाका फल नहीं है जो मोक्षको क्रिया साध्य सिद्ध करनेमें सहायक हो। अतः मोक्ष क्रियाका फल नहीं है। परन्तु मोक्ष असाध्य होनेसे शास्त्रका आरम्भ व्यर्थ हो जायगा? नहीं, क्योंकि शास्त्रका अवान्तर प्रयोजन तत्त्वज्ञान कराना है। वह अधिकारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति साध्य है, अतः शास्त्रका आरम्भ व्यर्थ नहीं है।

* शंका—जो यह कहा गया है कि मोक्षमें ज्ञानके विना अन्य क्रियाका सम्बन्ध नहीं है, यह कथन असंगत है अर्थात् व्याघात दोष ग्रस्त है, क्योंकि जब मोक्षमें ज्ञानका प्रवेश है तो ज्ञान मानसिक क्रिया होनेसे मोक्षमें उसका प्रवेश हो चुका। इसप्रकार जब मानसी क्रियारूप ज्ञानसे मोक्ष साध्य है तो क्रिया साध्य–उत्पाद्य आदि चार फलोंमें-से किसी एकको मोक्ष फल मानना पड़ेगा? सिद्धान्ती इसका समाधान 'न' आदि भाष्यसे करते हैं। 'स्वाहा देव हविर्दाने श्रौषट्, वौषट्, वषट्, स्वधा' देवताको आहुति देते समय 'स्वाहा, श्रौषट्, वौषट्, वषट्, स्वधा' इनमें-से किसी एक शब्दका मन्त्रके साथ प्रयोग किया जाता है।

३।८।१) इति चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यम्, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। * यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः', 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छान्दो० ५।७।१,८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। * तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्; अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्। किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यादीनि

मनसे ध्यान करे) इत्यादि श्रुतिमें ध्यान-चिन्तन यद्यपि मानसी क्रिया है, तो भी पुरुषके अधीन होनेके कारण वह पुरुष द्वारा करने न करने अथवा अन्य प्रकारसे करनेके योग्य है। ज्ञान तो प्रमाण जन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु विषयक होता है, इसलिए ज्ञान करने न करने अथवा अन्य प्रकारसे करनेके योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह केवल वस्तुके ही अधीन है, विधिके अधीन नहीं है और पुरुषके अधीन भी नहीं है। अतः मानसिक होनेपर भी ज्ञानका ध्यानसे महान् अन्तर है। जैसे 'पुरुषो०' (हे गौतम ! पुरुष अग्नि है) 'योषा०' (हे गौतम ! स्त्री अग्नि है) यहां स्त्री और पुरुषमें अग्नि बुद्धि मानसिक है और वह केवल विधि जन्य होनेके कारण क्रिया ही है और पुरुषके अधीन है। लोक प्रसिद्ध अग्निमें जो अग्नि बुद्धि है वह न विधिके अधीन है और न पुरुषके ही अधीन, किन्तु प्रत्यक्ष विषय वस्तु (अग्नि) के अधीन है, अतः वह ज्ञान ही है क्रिया नहीं। इसीप्रकार समस्त प्रमाण विषयक वस्तुमें भी समझना चाहिए। लोकमें ज्ञानके अविधेय होनेपर ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधिके अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञानके विषयमें लिङ्, लोट् आदि विधि प्रत्यय श्रूयमाण हैं, तो भी अनियोज्य विषयक होनेके कारण पत्थरादिमें प्रयुक्त उस्तरेकी तीक्ष्णधारके समान कुण्ठित हो जाते हैं अर्थात् उक्त विधि प्रत्यय भी अनियोज्य विषयक होनेसे पुरुषको प्रवृत्त करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि अहेयानुपादेय (हेयोपादेयरहित) वस्तु विषयक हैं। तब 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

सत्यानन्दी-दीपिका

* अब भगवान् भाष्यकार ज्ञान और ध्यानके भेदको 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः' आदि उदाहरणोंसे स्पष्ट करते हैं। परन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'आत्मानं पश्येत्' (आत्माको देखे) 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि०' (उसीको तू ब्रह्म जान) इत्यादि स्थलोंमें लिङ्, लोट्, तव्य आदि विधिप्रत्यय श्रूयमाण हैं, अतः ब्रह्मज्ञान विधेय प्रतीत होता है। जैसे 'यजेत' इस विधिसे विधेय याग क्रियारूप है, वैसे 'द्रष्टव्यः' 'पश्येत्' इत्यादि विधियोंसे विधेय ब्रह्मज्ञान भी क्रियारूप है ?

* विधि हेय तथा उपादेय विषयक है। पुरुष जिसके करने आदिमें स्वतन्त्र है वह हेय तथा उपादेय है, वहींपर पुरुष नियोज्य होता है। किन्तु ब्रह्म तो अनियोज्य है। सुरापान हेय है और यागादि उपादेय हैं। ब्रह्म तो अपना स्वरूप है और नित्य प्राप्त है, अतः वह हेयोपादेय भी नहीं है। किञ्च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधियाँ परम पुरुषार्थके साधन ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानकी प्रतिबन्धक जो स्वभावसे मनुष्योंकी सुखके लिए विषयोंकी ओर प्रवृत्ति है, उस क्षणिक विषय सुखमें प्रवृत्त मनुष्यको आत्मज्ञानकी स्तुति श्रवण कराकर वहाँसे हटाती हुई प्रयोजनवाली होती हैं।

विधिच्छायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इति, नच तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। * तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।४।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं विजानीयात्', 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥' (बृह० ४।४।१२) इति 'एतद्बुद्ध्वा

श्रोतव्यः' इत्यादि विधि तुल्य वाक्य किसलिए हैं अर्थात् इनका क्या प्रयोजन है ? हम कहते हैं कि विषयमें पुरुषकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इससे उसको वे पराङ्मुख करनेके लिए हैं। जो पुरुष बाह्य विषयोंमें 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो अनिष्ट प्राप्त न हो' इस प्रकार बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है, वह उन विषयोंसे आत्यन्तिक पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता। उस आत्यन्तिक पुरुषार्थके अभिलाषीको 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्य कार्य (शरीर) करण (इन्द्रिय) समुदायकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके विषय शब्दादिसे हटाकर उसकी चित्तवृत्तिको अन्तरात्माकी ओर प्रवाहरूपसे प्रवृत्त करते हैं। आत्मस्वरूपकी खोजमें प्रवृत्त हुए उस पुरुषको 'इदं सर्वं०' (यह जो कुछ भी है सब आत्मा है) 'यत्र त्वस्य०' (किन्तु जिस तत्त्वज्ञानावस्थामें इसके लिए सब आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसे देखे, किससे किसे जाने, अरे उस विज्ञाताको किससे जाने) 'अयमात्मा०' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंसे हेय तथा उपादेयसे रहित आत्मतत्त्वका उपदेश किया जाता है। यद्यपि अकर्तव्य प्रधान आत्मज्ञान किसीके त्याग अथवा ग्रहणके लिए नहीं होता, तथापि हम उसको उसीप्रकार स्वीकार करते हैं। हम वेदान्तियोंके लिए यह अलङ्कार है कि जो प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका ऐक्यज्ञान होनेपर सर्व कर्तव्यताकी हानि और कृतकृत्यता होती है। इस विषयमें 'आत्मानं०' (यदि पुरुष स्वयं प्रकाश आत्माको 'यह मैं हूँ' इसप्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर किस फलकी इच्छा करता हुआ किस कामनासे शरीरके पीछे स्वयं संतप्त हो) यह श्रुति और 'एतद्बुद्ध्वा०' (हे अर्जुन ! इस

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पनादूरम्। नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम्।' (वि० चू० ४।९४) (जो उपमा रहित अनादितत्त्व 'तू, मैं, यह, वह आदि कल्पनासे अत्यन्त दूर है, वह नित्यानन्दैकरस स्वरूप, सत्य और अद्वितीय ब्रह्म ही मैं हूँ) इसप्रकार जीव ब्रह्मका ऐक्यज्ञान होनेपर आत्मवित्के लिए न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय, न कुछ कर्तव्य है और न कुछ अकर्तव्य। जब वेदान्तशास्त्रद्वारा स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे अनर्थकी अत्यन्त निवृत्ति परमानन्दस्वरूप ब्रह्मका आविर्भावात्मक मोक्ष और कृतकृत्यता अनुभव सिद्ध है, तब क्रियारूप उपासनासे अविद्याकी निवृत्तिरूप संस्कार सहित प्रत्यगाभिन्नब्रह्मका आविर्भावात्मक मोक्ष होता है तथा 'उपासीत' इस उपासनारूप क्रियाका अङ्ग होकर सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य ब्रह्मका उपदेश करते हैं, इसप्रकार वृत्तिकारके मतका उपर्युक्त रीतिसे खण्डन समझना चाहिए। अब 'यदपि' आदिसे प्रभाकरके मतका उल्लेख करते हैं।

बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' (भ० गी० १५।२०) इति स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्। * यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति,–तन्न; औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्। योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म, उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात् आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्। * नन्वात्माऽहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न; तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। नह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम्। * आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति।

गुह्यतम तत्त्वको जानकर पुरुष ज्ञानी और कृतकृत्य हो जाता है) यह स्मृति है। इस कारण वेदान्तवाक्य उपासना विधिके विषयरूपसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं कराते। कोई कहते हैं कि प्रवृत्ति विधि, निवृत्ति विधि और उनके अङ्गोंसे भिन्न केवल सिद्ध वस्तुका प्रतिपादक वेद भाग नहीं है। यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुष अन्यका शेष (अङ्ग) नहीं है। जो केवल उपनिषदोंसे ही अधिगत असंसारी पुरुष ब्रह्म है, वह तो उत्पाद्य आदि चार प्रकारके द्रव्योंसे विलक्षण, स्वप्रकरणमें स्थित, अनन्यशेष है, यह नहीं है अथवा नहीं जाना जाता ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'स एष०' (यह नहीं, यह नहीं, इसप्रकार जो आत्मा उपादिष्ट है वह यह है) इस श्रुतिमें 'आत्मशब्द' है, अतः आत्माका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निषेध कर्ता है उसका वही तो आत्मा (स्वरूप) है। यदि कहो कि आत्मा 'मैं' इस प्रसिद्ध लोक प्रतीतिका विषय होनेसे केवल उपनिषदोंसे ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है, ऐसा नहीं, क्योंकि आत्मा तो 'मैं' इस लोक प्रसिद्ध प्रतीतिका साक्षी है विषय नहीं, ऐसा कहा जा चुका है। 'मैं' इस लोक प्रतीतिका विषय लोक प्रसिद्ध कर्तासे भिन्न उसका साक्षी, सब भूतोंमें स्थित, सम, एक, कूटस्थ, नित्य सबका आत्मा पुरुष है। वह विधिकाण्ड अथवा तर्कशास्त्रमें किसीसे भी अधिगत नहीं है। इसलिए उसका न कोई निषेध कर सकता है और न कोई उसे किसी विधिके अङ्गरूपसे ग्रहणकर सकता है। वह सबका आत्मा है, इसलिए न हेय है और न उपादेय ही। नष्ट होता हुआ सब विकार समुदाय पुरुष पर्यन्त नष्ट

सत्यानन्दी-दीपिका

* प्रवृत्ति (यागादि), निवृत्ति (सुरापानादिका निषेध) रूप कार्य तथा उनके अङ्गोंका ही वेद प्रतिपादन करता है। इससे भिन्न केवल सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) का प्रतिपादन नहीं करता, अतः वेदान्तवाक्य भी क्रियाके अङ्ग होकर ही ब्रह्मका ज्ञान कराते हैं, क्योंकि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (वेद क्रियार्थक है, क्रियासे भिन्न अक्रियार्थक निष्फल है) इसका समाधान 'तन्न' आदिसे करते हैं।

* 'मैं' इस प्रतीतिका विषय लोक प्रसिद्ध कर्ता भोक्ता संसारी है। उसीको प्रायः सब लोग आत्मा मानते हैं। परन्तु आत्मा तो अहंकारादिका साक्षी मात्र है। स्वयं साक्षी आत्मा अहंकारादिका विषय भला कैसे हो सकता है? किञ्च आत्मा भ्रमात्मक द्वैतका अधिष्ठान है उसका निषेध करनेपर जगत्में अस्ति, भाति, प्रियता कदापि सिद्ध नहीं होगी। इसलिए वेदान्तवेद्य आत्माका कोई निषेध नहीं कर सकता और न वह किसीका अङ्ग ही हो सकता है।

पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० १।३।११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह० ३।९।२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्। * यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्–'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः? नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। ॐ अक्रियात्वेऽपि

होता है। विनाश हेतुके अभावसे पुरुष अविनाशी है। विक्रिया हेतुके अभावसे कूटस्थनित्य है, अतएव नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इस कारण 'पुरुषान्न०' (पुरुषसे पर और कुछ नहीं है वह सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा (अवधि) है और वही परा गति है) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिमें पुरुषका 'औपनिषदं' यह विशेषण उपनिषदोंमें मुख्यरूपसे ज्ञान गम्य होनेपर उपपन्न होता है। इसलिए सिद्ध वस्तु विषयक वेद भाग नहीं है यह वादीका कथन साहस मात्र है। यदपि शास्त्रका तात्पर्य जाननेवालोंका 'दृष्टो हि०' (कर्मका ज्ञान करना ही उनका दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रयोजन है) इत्यादि कथन है। उन्हें धर्मजिज्ञासाका विषय होनेसे विधि प्रतिषेध शास्त्रके प्रकरणमें सिद्ध अर्थके प्रतिपादक वाक्योंके अभिप्रायके लिए समझना चाहिए। और 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है, अक्रियार्थक वेद वाक्य निष्फल हैं) इस अव्यभिचारी नियमको माननेवाले मीमांसकोंके मतमें सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद वाक्य भी निष्फल होंगे। यदि कहो कि शास्त्र प्रवृत्ति विधि, निवृत्ति विधि और उनके अङ्गोंसे अतिरिक्त सिद्ध वस्तुका उपदेश धर्मके लिए करता है, कुटस्थ नित्य सिद्ध वस्तुका उपदेश नहीं करता इसमें क्या कारण है? उपदिश्यमान सिद्ध वस्तु केवल उपदेशसे ही क्रिया नहीं हो जाती। यदि कहो कि सिद्ध वस्तु भले ही क्रिया न हो किन्तु क्रियाकी निष्पत्तिका साधन होनेके

सत्यानन्दी-दीपिका

* यदि कहो कि आत्मा अनित्य होनेके कारण हेय है, तो इसका समाधान 'सर्वं हि' आदिसे कहते हैं। आत्मा तो सब भूतोंमें पूर्ण होनेसे पुरुष कहा गया है। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गी० २।२०) (क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता) यह स्मृति प्रमाण है। परन्तु आत्मा परिणामी होनेसे अनित्य होगा? यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्म, लक्षण, अवस्था भेदसे परिणाम तीन प्रकारका होता है। उससे रहित होनेके कारण आत्मा कूटस्थ नित्य है। आत्मासे उत्कृष्ट वस्तु प्राप्य होनेके कारण आत्मा हेय है? ऐसा भी नहीं, क्योंकि आत्मा ही सबकी पराकाष्ठा, परागति है। याज्ञवल्क्य हे शाकल्य! 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि वेदान्त वाक्य अबाध्य, नित्य सिद्ध, अनन्यशेष ब्रह्मात्मतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं। अतः वेद भाग सिद्ध वस्तु ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करता यह कथन केवल साहस मात्र है।

* यदि अक्रियार्थक वेद वाक्य निष्फल है तो मीमांसकके मतमें 'सोमेन यजेत' (सोम नामक याग करे) 'दध्ना जुहोति' (दधिसे हवन करे) इस प्रकार सोम, दधि आदि सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद अनर्थक ही होगा। जो शब्द क्रियार्थक नहीं है उनकी अनर्थकता क्या है? क्या उनका कुछ

भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्,-नैष दोषः, क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। * यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते,-अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। * अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते। न च सा क्रिया। नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चा-

कारण सिद्ध वस्तुका उपदेश क्रियाके लिए ही होता है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि सिद्ध वस्तु क्रियाके लिए होनेपर भी क्रियोत्पादन शक्ति विशिष्ट वस्तु उपदिष्ट है, क्रियार्थत्व ही उसका प्रयोजन है अर्थात् क्रियाको निष्पन्न करना ही सिद्ध वस्तुका प्रयोजन है। क्रियार्थक होनेपर भी सिद्ध वस्तु अनुपदिष्ट नहीं होती। पूर्वपक्षी—यदि सिद्ध वस्तुका उपदेश होता भी तो उससे तुमको क्या लाभ होगा ? सि०—कहते हैं—दधि आदि पदार्थोंके समान प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अज्ञात ब्रह्मात्म वस्तुका भी शास्त्रसे उपदेश होना ही युक्त है। उसके ज्ञानसे संसारके हेतु भूत मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति प्रयोजन होता है। इसकारण क्रियाके साधन भूत सिद्ध वस्तुके उपदेशके समान आत्माका उपदेश भी सार्थक है। और 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' (ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करनी चाहिए) इत्यादि श्रुतियाँ निवृत्तिका उपदेश करती हैं। वह निवृत्ति न तो क्रिया है और न क्रियाका साधन ही। यदि क्रियाको न कहने वाले वाक्य अनर्थक हैं तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति परक उपदेश व्यर्थ होंगे। परन्तु वह इष्ट नहीं है।

सत्यानन्दी-दीपिका

अर्थ नहीं है अथवा वे फल रहित हैं ? 'आम्नायस्य' इस नियमसे यदि अक्रियार्थक शब्द अनर्थक हैं तो सोम, दधि आदि अर्थ शून्य होंगे। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उनका याग आदिकी सिद्धिके लिए वर्णन मिलता है। यदि कहो कि वे 'स्वर्गकामो यजेत' 'सुरां न पिबेत्' इस प्रकार प्रवृत्ति, निवृत्ति विधिसे भिन्न प्रतिपादित सोम दधि आदि सिद्ध पदार्थ धर्मके लिए कथित होनेके कारण सार्थक हैं, तो प्रश्न होता है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वाक्य सार्थक क्यों नहीं हैं ? इसमें यह कारण है कि सोम आदि क्रिया सम्बन्धी होनेसे कार्य हैं, अतः उनका उपदेश युक्त है, किन्तु सिद्ध ब्रह्म किसी क्रियाका सम्बन्धी न होनेसे कार्य नहीं है, इसलिए उसके प्रतिपादक वाक्य अनर्थक हैं।

* यद्यपि 'सोमेन यजेत' 'दध्ना जुहोति' आदि उपदेशोंसे दधि, सोमादि यागादि क्रिया नहीं हो जाते, फिर भी सोमादि सिद्ध वस्तु यागादि क्रियाकी निष्पत्तिमें साधन हैं, अतः वे सार्थक हैं। सि०—सिद्ध पदार्थ क्रियाके अङ्ग भले हों फिर भी यह नहीं हो सकता कि सोमादि पदार्थ नहीं रहते या उन पदोंका कुछ अर्थ नहीं है।

* वादीका यह मत ठीक नहीं है कि सिद्ध वस्तुकी सफलतामें क्रिया ही द्वार है, क्योंकि जैसे रज्जु ज्ञानसे सर्पादि भ्रान्ति और उससे उत्पन्न भयादिकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कारसे प्रपञ्चके कारणभूत मिथ्याज्ञान और उससे उत्पन्न प्रपञ्चमें सत्यत्व बुद्धिकी निवृत्ति हो जाती है। दधि, सोमादि यागादि क्रिया द्वारा सफल होते हैं, किन्तु ब्रह्म तो स्वयं फलस्वरूप है। यद्यपि दोनोंमें इतना अन्तर है, तथापि दधि सोमादि शब्द जैसे सफल सिद्ध दधि आदि वस्तुका बोध कराते हैं, उसीप्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्य भी सफल सिद्ध वस्तु ब्रह्मका बोध कराते हैं। जैसे विधि वाक्य सिद्ध पदार्थ परक हैं, वैसे ही वेदान्त वाक्य भी सिद्ध वस्तु परक हैं।

निष्ठम्। न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हनन-क्रियानिवृत्त्योदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति। * अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थ-

---

नञ्का रागतः प्राप्त हनन क्रियाके साथ सम्बन्ध होनेसे हनन क्रियासे निवृत्त होकर औदासीन्यके अतिरिक्त अप्राप्त क्रियाकी कल्पना नहीं की जा सकती। नञ्का यह स्वभाव है कि जो अपने सम्बन्धी पदार्थके अभावका ज्ञान कराता है। अभावज्ञान उदासीनताका कारण है। वह दग्धेन्धन अग्निके समान स्वयं ही शान्त हो जाता है। इस कारण प्रजापति व्रतादिके अतिरिक्त 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'

सत्यानन्दी-दीपिका

* विधि वाक्यगत सिद्ध पदार्थोंका विचारकर अब निषिद्ध वाक्यगत सिद्ध पदार्थोंका विचार करते हैं—जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्यके मध्यमें जो 'न' है, वह निवृत्तिका उपदेश करता है। निवृत्ति अभावरूप है, अतः वह न क्रिया है और न क्रियाका साधन ही, क्योंकि क्रिया और क्रियाके साधन भावरूप होते हैं। अक्रियार्थक वेदवाक्य यदि अनर्थक हों तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति परक वेद वाक्य व्यर्थ हो जाएँगे। और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्याय विधिसे प्राप्त होनेके कारण उनमें व्यर्थत्वकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसलिए स्वाभाविक रागसे प्राप्त हनन क्रियासे 'नञ्' हनन कर्ताको निवृत्तकर उदासीनभावमें लाता है। इस अर्थसे भिन्न लक्षणाद्वारा हनन विरोधी संकल्पादि क्रिया, 'अहननं कुर्यात्' (हनन न करे) इस प्रकार 'नञ' के अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं है। किन्तु अपने सम्बन्धीके अभावका ज्ञान करना ही 'नञ्' का स्वभाव है।

''तत्सादृश्यमभावश्चतदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥''

''नञ्के छः अर्थ कहे गये हैं—† तत्सादृश्य (उसके समान), अभाव, उससे भिन्न, उससे अल्प, अप्राशस्त्य (अयोग्य) तथा विरोध।'' यदि विधिके समान निषेधका अर्थ भी कार्य किया गया तो फिर विधि और निषेधमें अन्तर न रहेगा।

---

† टि०—तत्सादृश्यम्–अनिक्षु अर्थात् ईखसे भिन्न ईखके सदृश शर, अभावः—यथा नास्ति अर्थात् अस्तित्वका अभाव, तदन्यत्व–अब्राह्मण–ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रियादि, तदल्पता-अनुदरा कन्या–कृशोदरी, अप्राशस्त्य–अपशवः–अन्ये गोऽश्वेभ्यः, अर्थात् गौ, अश्वसे भिन्न पशु हैं, विरोधः–अमित्रः, अविद्या आदि अर्थात् मित्रसे विरुद्ध शत्रु, विद्यासे भिन्न अविद्या आदि।

(क) 'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥' (जिस वाक्यमें विधि अप्रधान और प्रतिषेध प्रधान हो और जहाँ नञ्का क्रियाके साथ सम्बन्ध हो, वहाँ नञ्का प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ है) यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (कलञ्जका भक्षण न करे) इसमें बलवत् अनिष्टके असाधनत्वसे विशिष्ट इष्ट साधनरूप विधि वाचक प्रत्ययके अर्थके अभावका भक्षणक्रियामें बोध नञ् कराता है, इसलिए विधि अप्रधान है और नञ्का अर्थ अभाव प्रधान है, अतः क्रियापदके साथ जिसका अन्वय है, ऐसा नञ् प्रसज्यप्रतिषेध कहलाता है, प्रसज्य–प्रसक्त, प्रतिषेध–निषेध अर्थात् प्रसक्तका निषेध।

(ख) 'प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥' 'जिसमें विधि प्रधान और प्रतिषेध अप्रधान हो तथा जिसमें उत्तरपदके साथ नञ्का अन्वय हो वहाँ नञ्का पर्युदास अर्थ है।'

क्याभिधानं द्रष्टव्यम् । * यदप्युक्तम्-कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमान-मनर्थकं स्यात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम्; 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् । ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्व-दर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्; अत्रोच्यते,-नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथा-पूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । नहि शरीराद्यात्मा-

---

इत्यादि स्थलोंमें रागसे प्राप्त हनन क्रियासे निवृत्त होकर औदासीन्य ही 'नञ्' प्रतिषेधका अर्थ हम मानते हैं । इस कारण पुरुषार्थके अनुपयोगी उपाख्यानादि भूतार्थवाद विषयक आनर्थक्य अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए । जो पहले कहा गया है कि कर्तव्य विधिके साथ सम्बन्धके विना कही हुई वस्तुमात्र 'सात द्वीप वाली पृथ्वी है' इत्यादिके समान अनर्थक है । 'यह रज्जु है सर्प नहीं है' इस प्रकार वस्तु मात्रके कथनसे भी भयादिकी निवृत्ति रूप प्रयोजन देखा गया है, इस तरहसे कहकर उसका परिहार किया गया है । परन्तु श्रुत ब्रह्म पुरुषमें भी पूर्वके समान संसारित्व देखनेमें आता है, अतः रज्जुस्वरूप (यह रज्जु है) कथनके समान ब्रह्मस्वरूपका कथन सार्थक नहीं हो सकता, ऐसा पहले कहा गया है । सि०—इसपर कहते हैं—'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अवगत ब्रह्मात्म-भाववाले विद्वान्में पूर्वके समान संसारित्व नहीं दिखलाया जा सकता, क्योंकि वेद प्रमाणसे जनित

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'नञ्' से प्राप्त जो निवृत्त्यात्मक अभाव ज्ञान है वह ब्राह्मण हिंसाके प्रवर्तक रागका नाश करता हुआ हनन कर्ताको हनन क्रियासे हटाकर उदासीन भावमें लाता हुआ स्वयं भी शान्त हो जाता है । 'तस्य बटोर्व्रतम्' (उस ब्रह्मचारीका यह व्रत है) इस वाक्यमें अनुष्ठेय क्रियाका वाचक व्रत शब्द है, उससे उपक्रमकर 'नेक्षेतोद्यन्तमादीत्यम्' (उदय होते हुए सूर्यको ब्रह्मचारी न देखे अर्थात् दर्शन विरोधी संकल्परूप क्रिया करे) यह उपसंहार वाक्य है । इससे ब्रह्मचारीके लिए प्रजापति व्रतका विधान किया गया है । जैसे यहाँ लक्षणासे प्रजापति व्रतमें सूर्यदर्शन विरोधी संकल्परूप क्रिया मानी गई है, वैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' में नहीं है । किन्तु यहाँ तो रागसे प्राप्त हनन क्रियाका अभाव 'नञ्' पदका अर्थ है । हनन विरुद्ध संकल्परूप क्रिया नहीं । जैमिनि मुनिके 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस पूर्वपक्ष सूत्रसे क्रियासे भिन्न सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेदवाक्य अनर्थक कहे गये हैं उनका भी तात्पर्य यह है कि जिन वाक्योंका श्रवणादि करनेसे भी कुछ फल सिद्ध नहीं होता ऐसे पुरुषार्थके अनुपयोगी उपाख्यान । यथा 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि ‡ भूतार्थवाद (कथामात्र) व्यर्थ हैं । शेष वेदान्तवाक्य तो सफल होनेसे सर्वथा सार्थक हैं ।

* सि०—क्या केवल श्रुत ब्रह्म तत्त्वज्ञानके अनन्तर श्रोतामें पूर्वकी भाँति संसारित्व है अथवा ब्रह्म साक्षात्कारके अनन्तर ? प्रथमपक्ष तो हमें इष्ट ही है, क्योंकि केवल परोक्ष ज्ञानमात्रसे अपरोक्ष संसारित्व भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती । द्वितीय पक्ष तो युक्त नहीं है, कारण कि मिथ्याज्ञानसे ही कर्तृत्व भोक्तृत्व संसारित्व अपनेमें माना हुआ है । वह 'स आत्मा तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंके श्रवणसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानद्वारा निवृत्त हो जाता है ।

---

‡ टि०—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादास्त्रिधा मताः' (जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरोध उपस्थित हो वहाँ गुणवाद, जहाँ वाक्यसे प्रतिपादित अर्थ प्रत्यक्षादिसे अवधारित हो वहाँ अनुवाद और जहाँ वाक्यसे प्रतिपादित अर्थका प्रमाणान्तरसे बाध न हो और अनुवाद भी न हो वह भूतार्थवाद कहा जाता है) इसका विस्तृत वर्णन देवताधिकरण (ब्र० सू० १।३।२६) में द्रष्टव्य है ।

भिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमान-निवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। नच कुण्डलिनः कुण्डलित्वा-भिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवति इति चेत्,-न; सशरीर-त्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा-न्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृत-धर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न, शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वा-सिद्धेः। शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परै-षाऽनादित्वकल्पना। * क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न; धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्।

ब्रह्मात्मभावके साथ उसका विरोध है। [इस अर्थको स्पष्ट करनेके लिए भगवान् भाष्यकार तीन उदाहरण देते हैं, उनमेंसे प्रथम] अनात्म शरीरादिमें आत्मबुद्धि रखनेवाले पुरुषमें दुःख भयादि देखे गये हैं, परन्तु वेदसे जनित ब्रह्मात्मभावावगम (ज्ञान) होनेपर देहात्मबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर मिथ्याज्ञान निमित्तक वही दुःख भयादि पहलेके समान उस (आत्मवित्) में होते हैं, ऐसा कल्पना नहीं की जा सकती। [द्वितीय उदाहरण] धनाभिमानी धनी गृहस्थको धनापहारसे दुःख होता देखा गया है। संन्यास ग्रहण किए हुए धनाभिमान रहित उसी पुरुषको धनापहार निमित्तक वही दुःख नहीं होता। [तृतीय उदा-हरण] कुण्डल पहनने वालेको कुण्डलित्वाभिमान निमित्तक सुख होता देखा गया है, कुण्डलवियुक्त कुण्डलित्वाभिमान रहित उसी पुरुषको कुण्डलित्वाभिमान निमित्तक वही सुख नहीं होता। यही बात 'अशरीरं०' (शरीर रहित हुए आत्माको सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुतिसे भी कही गई है। यदि कहो कि शरीरपात होनेपर अशरीरत्व हो जायगा जीवित होनेपर नहीं ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सशरीरत्व मिथ्याज्ञान निमित्तक है। 'शरीर ही आत्मा है' इस अभिमानरूप मिथ्याज्ञानको छोड़कर अन्य किसी कारणसे आत्मामें सशरीरत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। कर्मसे उत्पन्न न होनेके कारण अशरीरत्व नित्य है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। यदि कहो कि आत्मकृत धर्माधर्म निमित्तक उसमें सशरीरत्व है, तो ऐसा नहीं, क्योंकि आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध ही असिद्ध है, इससे धर्माधर्ममें आत्मकृतत्व भी असिद्ध है। आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध हो तो धर्माधर्मकी उत्पत्ति हो, आत्मकृत धर्माधर्म हों तो आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध हो, ऐसा अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। इन दोनोंका कार्यकारणभाव अनादि है, यह अनादित्व कल्पना भी अन्धपरम्परा है। क्रिया सम्बन्धके अभाव होनेसे आत्मा कर्ता भी नहीं हो सकता। यदि कहो कि सेवकोंके साथ सान्निध्यमात्रसे राजादिमें कर्तृत्व देखा गया है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि धन दानादि उपायोंसे सम्पादित सेवकोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण उनमें कर्तृत्वकी उपपत्ति होती है। परन्तु आत्मामें शरीरादिके साथ धनदानादिके समान स्वस्वामिभाव सम्बन्धके कारणकी किञ्चिदपि कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु मिथ्याभिमान तो सम्बन्धका हेतु प्रत्यक्ष है। इस कथनसे आत्मामें यजमानत्वादिका प्रतिपादन हो गया अर्थात् जब तक

मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्। अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः प्रसिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्? आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। *तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः 'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेद ँ शरीर ँ शेते।ऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण

मिथ्याभिमान है तभी तक आत्मामें यजमानत्वादि भी हैं। इस विषयमें प्रभाकर कहते हैं— देहादिसे भिन्न आत्माका अपने देहादिमें 'मैं, मेरा' अभिमान गौण है मिथ्या नहीं, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि जिसको वस्तुका भेद ज्ञात है उसीको गौण मुख्य ज्ञान होता है यह प्रसिद्ध है। जिसको दो वस्तुओंका भेव ज्ञात है, जैसे अन्वय-व्यतिरेकसे सिंह शब्द सिंह ज्ञानका विषय केसर आदिसे युक्त, विशेष आकृति वाला, पुरुषसे भिन्न सिंह प्रसिद्ध है और उससे भिन्न प्रायः क्रूरता एवं शूरता आदि सिंहके गुणोंसे सम्पन्न पुरुष भी ज्ञात है। उसको सिंह गुण सम्पन्न पुरुषमें सिंह शब्द प्रयोग और सिंह ज्ञान गौण होते हैं। परन्तु जिसको वस्तुका भेद ज्ञात नहीं है उसको नहीं होते। उसको तो दूसरे अर्थमें अन्य शब्द और ज्ञान भ्रान्तिसे ही होते हैं गौण नहीं। जैसे मन्द अन्धकारमें 'यह स्थाणु है' ऐसे विशेष ज्ञानके गृहीत न होनेपर 'पुरुष' यह शब्द और ज्ञान स्थाणुमें होते हैं, जैसे शुक्तिमें अकस्मात् 'यह रजत है' यह शब्द और ज्ञान निश्चित होते हैं, वैसे देहादि संघातमें मुख्यरूपसे होनेवाले 'मैं' ऐसा शब्द और ज्ञान आत्मा अनात्माके विवेक न होनेके कारण उत्पन्न होते हैं, वे गौण कैसे कहे जा सकते है? आत्मा, अनात्माका भेद जाननेवाले पण्डितोंको भी भेड़ बकरी पालनेवाले प्राकृत पुरुषोंके समान देहादिमें अपृथक्रूपसे शब्द प्रयोग और ज्ञान भ्रान्तिसे उत्पन्न होते हैं। इस कारण आत्माको देहादिसे भिन्न माननेवालोंका देहादिमें अहं प्रत्यय (मैं) मिथ्या ही है गौण नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्याज्ञानसे होता है और ज्ञान होनेपर जीवितावस्थामें आत्मवित्को ही अशरीरत्व प्राप्त होता है। और उसी प्रकार 'तद्यथा०' (जिस प्रकार सर्पकी काँचुली बाँबीके ऊपर मृत और सर्प द्वारा परित्यक्त हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार विद्वान्, जिसने अभिमान त्याग दिया है उसका शरीर पड़ा रहता है और शरीरमें स्थित यह आत्मा अशरीर है, अमृत, प्राण, ब्रह्म है स्वयं प्रकाश ही है) और 'सचक्षुरचक्षु०' (वस्तुतः वह नेत्र रहित भी सनेत्रके समान, श्रोत्र रहित भी श्रोत्र सहित-सा, वाणी रहित भी

सत्यानन्दी-दीपिका

* जैसे साँप अपनी काँचुलीमें अपनापन छोड़कर जहाँ चाहे उसे उत्तार फैंक देता है उसमें फिर अहंता ममता नहीं करता, वैसे ही आत्मवित् अपने स्थूल शरीरादिमें अहंता, ममता त्यागकर

इवसवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च। स्मृतिरपि च-'स्थितप्रज्ञस्यका भाषा' (भग० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्। * यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न; अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति; मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्य-

---

वाणी सहित-सा, मन रहित भी मन सहित-सा, प्राण रहित भी प्राण सहित-सा है) यह श्रुति ब्रह्मवित्‌के सम्बन्धमें है। 'स्थितप्रज्ञस्य०' (जिसको प्रज्ञा स्थित है उसकी भाषा (लक्षण) क्या है) इत्यादि स्मृति भी स्थितप्रज्ञका लक्षण कहती हुई यह दिखलाती है कि विद्वान्‌का सर्व प्रवृत्तिके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मभाव साक्षात्कार करनेवाला विद्वान् पूर्वके समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्वके समान संसारी है मानो उसने ब्रह्मात्मभावका साक्षात्कार ही नहीं किया है। इस कारण वेदान्तशास्त्र निर्दोष है। पहिले जो यह कहा गया है कि श्रवणान्तर मनन और निदिध्यासन देखनेमें आते हैं, इसलिए ब्रह्म विधिका अङ्ग है स्वरूप पर्यवसायी नहीं, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि श्रवणके समान मनन, निदिध्यासन भी ब्रह्मके साक्षात् ज्ञानके लिए हैं। यदि ज्ञात ब्रह्मका कहीं कर्मादिमें विनियोग होता तो विधिका अङ्ग भी होता, परन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् वेदान्त श्रवणके विना ब्रह्म अज्ञात है। श्रवणके समान मनन निदिध्यासन भी ज्ञानके लिए हैं। इसलिए उपासना विधिकी विषयतारूपसे ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है यह संभव नहीं है। अतः वेदान्त वाक्योंके समन्वयसे ब्रह्म स्वतन्त्र शास्त्र प्रमाणक है, यह सिद्ध हुआ। ऐसा होनेसे ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

सत्यानन्दी-दीपिका

उसमें रहता हुआ भी न रहेके समान होता है अर्थात् देहादिमें मिथ्याज्ञान मूलक आत्माभिमान निवृत्त होनेपर विद्वान् शरीरमें रहते भी अशरीर है, क्योंकि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुति ब्रह्मवित्‌को ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित करती है। ब्रह्म अशरीर है, अतः ब्रह्मवित् भी अशरीर है। परन्तु व्यवहारमें वह 'सचक्षुरचक्षुरिव' (चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रहित होता हुआ भी चक्षु आदि इन्द्रियों सहित-सा प्रतीत होता है) जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है उसके लिए ही शास्त्र आरोपित संसारित्वका निषेध करता है; अन्यके लिए नहीं, इसलिए शास्त्र सर्वथा दोष रहित है।

* 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५) इस श्रुति में श्रवणके अनन्तर मनन और निदिध्यासनकी विधि देखनेमें आती है। इसलिए ब्रह्म विधिका अङ्ग है, क्योंकि श्रवणमात्रसे अपने स्वरूपमें निश्चित तात्पर्यवाला नहीं होता। परन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि श्रवणके समान मनन निदिध्यासन भी ब्रह्मज्ञानके लिए हैं। इनका श्रवणसे पृथक् प्रयोजन नहीं है। ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति ही सबका एकमात्र प्रयोजन है। ब्रह्मज्ञानका ब्रह्मसाक्षात्कार ही फल है। जब वह सोम यागादिके समान विधेय ही नहीं तो विधिका अङ्ग कैसे ? विधिका अङ्ग वह होता है जो प्रथम ज्ञात हो और स्वयं फल न हो। परन्तु ब्रह्म तो वेदान्त श्रवणके पूर्व अज्ञात है और ब्रह्मात्मज्ञान होनेपर स्वयं फलरूप है। इसलिए ब्रह्म किसी भी विधिका अङ्ग नहीं है, तो उपासना विधिका विषयरूपसे शास्त्र प्रमाणक हो यह कथन भी असंगत है। अतः ब्रह्ममें स्वतन्त्र

समन्वयादिति सिद्धम् । *एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रा-रम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्नपृथक्शास्त्र-मारभ्येत् । आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत-* अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा' इति, 'अथातः क्रत्वर्थ-पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवत् । ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः-'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति । तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि । नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति । अपि चाहुः-गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् । सद्ब्रह्मात्मा-

---

इसप्रकार ब्रह्म विषयक पृथक् शास्त्रका आरम्भ युक्त है । वेदान्त यदि उपासना विधि परक होते तो 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इसीसे आरब्ध हो जानेके कारण 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस पृथक् शास्त्रका आरम्भ न होता । यदि कदाचित् आरम्भ भी किया जाता तो 'अथातः क्रत्वर्थः०' (अब अवशिष्ट धर्मकी जिज्ञासा) इसप्रकार प्रारम्भ होता । ब्रह्म आत्माके एकत्व ज्ञानकी प्रतिज्ञा पूर्व मीमांसामें नहीं है, इस कारण उसके लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस अपूर्व शास्त्रका आरम्भ युक्त है । इससे 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारके ज्ञान पर्यन्त सब विधियाँ और अन्य सब प्रमाण हैं, क्योंकि हेयोपादेयसे रहित अद्वैत आत्मावगति होनेपर निर्विषयक प्रमाता रहित प्रमाण नहीं हो सकते । ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं—'गौणमिथ्यात्मनो०' (अबाधित सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा ज्ञान होनेपर पुत्र देहादिका बाध होता है अर्थात् यह सब मायामात्र है वास्तविक नहीं, ऐसा निश्चय हो जाता है । उसमें गौणमिथ्यात्मा-पुत्र, दार, देहादिमें आत्माभिमान निवृत्त हो जानेपर विधि निषेधादि सब व्यवहार कैसे हो सकता है ? गौण और मिथ्याभेदसे आत्माभिमान दो प्रकारका है । पुत्र दारा आदिमें 'मैं पुत्र हूँ, यह मेरा है' इत्यादि आत्माभिमान गौण है, क्योंकि दोनोंका भेद ज्ञात है । उनके सुख दुःखसे अपनेको सुखी दुःखी अनुभव करता है । अपने देहादिमें 'मैं मनुष्य हूँ, कर्ता

सत्यानन्दी-दीपिका

रूपसे शास्त्र प्रमाण है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदन्त वाक्योंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है ।

* यदि वेदान्त भी उपासना विधिका अङ्ग होता तो 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस शास्त्रके प्रथम आरब्ध हो जानेके कारण इससे पृथक् शास्त्रका आरम्भ न होता, क्योंकि दोनोंका विषय एक ही होता । यदि पूर्व आरब्ध विषयका आरम्भ करते हो ऐसा वर्णन करते कि जो धर्म पूर्व मीमांसामें प्रतिपादित है उस शेष धर्मके लिए जिज्ञासा करनी चाहिए तब तो इस शास्त्रके आरम्भमें ही भगवान् सूत्रकार भी ऐसी प्रतिज्ञा करते । किन्तु 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे पूर्वोक्त मीमांसा सूत्रसे विलक्षण ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की है । इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म और वेदान्त किसी भी विधिके अङ्ग नहीं हैं, अपितु स्वतन्त्र ही हैं । जैमिनि आचार्यने अपने पूर्वमीमांसा शास्त्रमें कर्म, कर्मका फल, इतिकर्तव्यताका वर्णन किया है । उनके सिद्धान्तमें ब्रह्मको नहीं माना गया है इससे वहाँ जीव ब्रह्मकी एकताके विचारका अवकाश ही नहीं है । 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार जब तक नहीं होता तब तक 'यजेत, जुहोति, दद्यात्, उपासीत' इत्यादि विधियाँ तथा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इत्यादि सब उपपन्न होते हैं अर्थात् व्यावहारिक सत्यरूपसे उपयुक्त होते हैं । 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्तवाक्योंके श्रवणादिसे जब ब्रह्मरूपसे आत्माका साक्षात्कार हो जाता है तब प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयरूप सब द्वैत बाधित हो जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न पदार्थोंका बाध हो जाता है ॥ ४ ॥

चतुः सूत्री समाप्ता ।

हमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः । अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥ देहात्मप्रत्ययोयद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः । लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्' इति ॥ ४ ॥

इति भाष्ये चतुःसूत्री समाप्ता ।

(५ ईक्षत्यधिकरणम् सू० ५-११)

*** एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम् । ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम् । सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति । सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं**

भोक्ता हूँ' यह मिथ्याभिमान है । ये दोनों प्रकारके अभिमान बाधित हो जानेपर विधि निषेध आदि सब व्यवहार कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥

'अन्वेष्टव्यः०' (जो आत्मा सर्वपापरहित, जरा, मृत्यु, शोक आदिसे रहित है उसकी खोज करनी चाहिए) इस आत्मज्ञानसे पूर्व ही चिद्रूप आत्मामें प्रमातृत्व रहता है । प्रमाताके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर पाप पुण्य, रागद्वेष, जन्मादिसे रहित परमात्मस्वरूप हो जाता है । यहाँ शंका होती है कि यदि प्रमाता कल्पित है तो प्रमाताके आश्रित प्रमाणमें प्रमाणता कैसे सिद्ध होगी ? समाधान-'देहात्म०' (जिसप्रकार 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होनेपर भी प्रमाण माना जाता है, उसीप्रकार प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण भी आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त प्रमाण हैं) वेदान्त तीनों कालमें बाधरहित ब्रह्मात्मैकत्वका बोध करता है, अतः इसको तत्त्वका बोध करानेवाला प्रमाण कहा जाता है । पूर्व पक्षमें मुमुक्षुकी वेदान्तोंमें प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति है, सिद्धान्तमें प्रवृत्तिकी सिद्धि है, इसप्रकार दोनोंमें अन्तर है ॥ ४ ॥

चतुःसूत्री समाप्ता ।

इस प्रकार यह कहा गया कि वेदान्त वाक्योंका कार्यके साथ सम्बन्धके विना भी एक अद्वितीय ब्रह्ममें पर्यवसान होता है, इन वाक्योंका प्रयोजन "यह आत्मा ब्रह्म है" ऐसा अपरोक्ष ज्ञान कराना है और वे ब्रह्मात्मामें तात्पर्यसे समन्वित हैं । और श्रुतिमें यह भी कहा गया है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशका कारण है । परन्तु, सांख्य आदि तो ऐसा मानते हैं कि सिद्ध वस्तु अन्य प्रमाणसे ही अवगत होती है । और प्रधान आदि अन्य कारणोंका अनुमान करके तत्परत्व (प्रधानादि परत्व) से ही वेदान्त वाक्योंकी योजना करते हैं । सृष्टि विषयक सम्पूर्ण वेदान्त वाक्योंमें अनुमान द्वारा ही कार्यसे कारणके लक्षण बतानेकी चेष्टा की गई है । और सांख्य ऐसा मानते हैं कि प्रधान, पुरुष और उनका संयोग नित्य अनुमेय हैं । कणादके अनुयायी तो

सत्यानन्दी-दीपिका

* किञ्च सूत्रकारने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्रसे जो ब्रह्मविषयक जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है ? इस शंकाके समाधानमें सूत्रकारने "जन्माद्यस्य यतः" इस द्वितीय सूत्रसे लेकर "तत्तु समन्वयात्" इस चतुर्थ सूत्र तक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तथा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशका जो का॰ण है वही ब्रह्म है, यद्यपि ऐसा सूचित किया है, तथापि सूत्रकारने अभी तक यह स्पष्ट नहीं किया कि ब्रह्म चेतन ही इस जगत्का उपादान कारण है अथवा अचेतन ? इसलिए तो यहाँ सन्देह होता है कि क्या जगत्का उपादानकारण चेतन है अथवा अचेतन ? इस विषयमें सांख्य कहते हैं—ब्रह्म, कूटस्थ और विकाररहित है, उसका परिणाम होना तो असम्भव है, क्योंकि यह

लिलक्षयिषितम् । प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते । * काणादास्तु तेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम् । एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिपरत्वदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभास-

---

उन्हीं वाक्योंसे ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर सृष्टिका निमित्त कारण है और अणु समवायिकारण हैं । इसी प्रकार अन्य तार्किक भी वाक्याभास और युक्त्याभासका अवलम्बन लेते हुए अद्वैतमतमें पूर्वपक्षी बनकर उपस्थित होते हैं । उक्त विवाद उपस्थित होनेपर वेदान्त वाक्योंका प्रयोजन ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान कराना है, यह दिखलानेके लिए वाक्याभास और युक्त्याभासके आधारपर उपस्थित विरोधोंको पूर्वपक्ष बनाकर पद, वाक्य और प्रमाणके ज्ञाता आचार्य (व्यास) उनका निराकरण करते हैं।

सत्यानन्दी-दीपिका

अनुभव सिद्ध भी है कि कार्य कारणमें विकार लाए बिना उत्पन्न ही नहीं होता अर्थात् अपने अस्तित्वको सिद्ध नहीं कर पाता । इसलिए ''सर्गाद्यं कार्यं जड़प्रकृतिकं कार्यत्वात् घटवत्'' (सृष्टि आदि कार्य कार्य (जन्य) होनेके कारण जड़ प्रकृतिवाला है, जैसे घट ।) इस अनुमानसे प्रधान आदि जड़ कारणोंकी सिद्धि होती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि जगत्के उत्पत्ति आदिके प्रतिपादक वेदान्तवाक्य भी अनुमानद्वारा कार्यसे कारणका ज्ञान कराते हुए प्रधान आदि जड़ कारणोंका प्रतिपादन करते हैं । प्रलयकालमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको वे प्रधान कहते हैं । वही प्रधान, पुरुष और इनका संयोग नित्य अनुमेय हैं । यथा ''यज्जडं तच्चेतनसंयुक्तं यथा रथादि'') जो जड़ होता है वह चेतनसे युक्त होता है, जैसे रथ सारथिसे युक्त होता है, वैसे ही जड़ प्रधान भी चेतन पुरुषसे युक्त होना चाहिए) । इस प्रकार पुरुष, प्रधान और इनका संयोग नित्य अनुमेय ही हैं ।

* वेदान्तमतमें सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान करण है और सांख्य मतमें प्रधान कर्तृकारण है । अब भगवान् भाष्यकार इस उक्त मतके विरोधी अन्य मतका 'काणादास्तु' इत्यादिसे उल्लेख करते हैं । कणादके अनुयायी ऐसा मानते हैं कि ''यत्कार्यं तत्बुद्धिमत्कर्तृकम्'' (जो कार्य है वह बुद्धिमान् कर्तासे जन्य है, जैसे घट ।) क्योंकि चेतन कर्तामें कार्यानुकूल ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न होते हैं, किन्तु जड़ प्रधान आदिमें कार्यानुकूल ज्ञान आदि नहीं होते, अतः जड़ प्रधानको जगत्का कर्तृकारण मानना अयुक्त है, किन्तु चेतनको ही इस जड़ जगत्का कर्तृकारण मानना चाहिए । यद्यपि बुद्धि आदि गुणोंसे युक्त जीव चेतन है और घट आदि कार्यका कर्ता भी है, फिर भी अल्पज्ञ और अल्प शक्ति आदि युक्त होनेसे इस विचित्र, विशाल संसारके निर्माण आदि करनेमें वह सर्वथा असमर्थ है। अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्योंके आधारपर जगत्के उत्पत्ति आदिका निमित्तकारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर है । वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके परमाणु इस कार्य जगत्के प्रति उपादान कारण हैं ।

शून्यवादी बौद्ध—''असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'' (छा० ६।२।१) (आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था) इत्यादि श्रुति वाक्योंके आधारपर इस जगत्का उपादान कारण शून्यको मानते हैं । और ''यत् वस्तु तत् शून्यावसानं यथा दीपः'' जो वस्तु है वह अन्तमें शून्यमें लीन होती है, जैसे दीपक ।

इस प्रकार वाक्याभास और युक्त्याभासोंका अवलम्बनकर वादी भिन्न-भिन्न मतोंके द्वारा विरोध

विप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते। * तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्तीत्यवोचंस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। * कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः, 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकरणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयो-

उनमें त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान जगत्का कारण है, यह माननेवाले सांख्यमतावलम्बी कहते हैं—तुमने कहा है कि जो वेदान्त वाक्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें जगत्की कारणताको दिखलाते हैं, वे प्रधान कारण पक्षमें भी लगाए जा सकते हैं। स्वकार्यकी अपेक्षा प्रधानमें भी सर्वशक्तित्व उपपन्न है, एवं सर्वज्ञत्व भी उपपन्न है। प्रधान सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? जिसे तुम ज्ञान मानते हो वह सत्त्वगुणका धर्म है, क्योंकि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है) यह स्मृति है। उस सत्त्वगुणके धर्मरूप ज्ञानसे कार्य (देह) करण (इन्द्रिय) वाले पुरुष योगी सर्वज्ञ प्रसिद्ध हैं।

सत्यानन्दी-दीपिका

प्रदर्शित करते हैं। तब पद (व्याकरण) वाक्य (मीमांसा) प्रमाण (न्याय) आदि शास्त्रोंमें पारंगत भगवान् विष्णुके ज्ञानशक्ति अवतार † आचार्य भगवान् व्यास वेदान्त वाक्य ब्रह्म परक हैं, यह दिखलानेके लिए उन विरोधोंका उल्लेख करते हैं। अब भगवान् भाष्यकार उनमेंसे प्रथम 'तत्र' आदिसे सांख्यमतका उल्लेख करते हैं।

* 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥' (सां० का० ३) (मूल प्रकृति-प्रधान सबका मूलकारण है वह किसीका कार्य नहीं है अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। सृष्टिकालमें सर्वप्रथम प्रकृतिसे महद् उत्पन्न होता है, महद्से अहंकार, अहंकारसे मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। महद्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ ये सात कार्य और कारण उभयात्मक हैं, अर्थात् महद् प्रधानका कार्य है और अहंकारका कारण भी है, अहंकार महद्का कार्य है और एकादश इन्द्रियों और पाँच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)का कारण भी है। शब्द आदि पाँच तन्मात्राओंसे आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये उक्त तन्मात्राएँ आकाश आदि पाँच भूतोंके कारण हैं। एकादश इन्द्रियाँ और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच स्थूलभूत, ये सोलह केवल कार्य हैं अर्थात् ये तत्त्वान्तरको उत्पन्न नहीं करते, अतः कारण नहीं हैं और चेतन पुरुष तो न कार्य है और न कारण) इस प्रकार सांख्यमतमें पच्चीस तत्त्व हैं। प्रधान चेतन पुरुषके संयोगसे महद्से लेकर इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको उत्पन्न करता है, इससे स्वकार्यकी अपेक्षा प्रधानमें सर्वशक्तिमत्त्व है इसी प्रकार सर्वज्ञत्व भी, अतः वेदान्तवाक्योंकी 'प्रधान जगत्का कारण है' इस पक्षमें योजना हो सकती है।

* जितना जितना सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है अर्थात् रजो और तमोगुणसे जितना जितना अनभिभूत-शुद्ध सत्त्व होता है उतना उतना ज्ञानका भी उत्कर्ष होता है। इस आधारपर योगदर्शनमें भी कहा गया है कि 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (योग० १।२५) (उसमें सत्त्वगुणकी निरतिशयता-अत्यन्तशुद्धता-रजो और तमोगुणसे अनभिभूतता ही सर्वज्ञताका कारण है) 'सत्त्वं लघुप्रकाशकम्' (सां० का० १३) (सत्त्व गुण लाघव युक्त और प्रकाशक है) और यह लोकप्रसिद्ध भी है कि सत्त्व-

टि० :—† आचिनोति च शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः स उदाहृतः॥

त्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम् । न केवलस्याकार्यकरणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किंचिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम् । * त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु । अवश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम् । नहि सर्वदा सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते । * तथाहि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत । अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति । अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं

सत्त्वका निरतिशय उत्कर्ष होनेपर सर्वज्ञत्व प्रसिद्ध है । देह और इन्द्रिय रहित केवल ज्ञानस्वरूप पुरुषमें सर्वज्ञत्व अथवा अल्पज्ञत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती । प्रधान त्रिगुणात्मक है, इसलिए तो सब ज्ञानोंका कारणभूत सत्त्वगुण प्रधान-अवस्थामें विद्यमान है । इस कारण अचेतन होनेपर भी प्रधानका ही वेदान्त वाक्योंमें सर्वज्ञत्व उपचरित है अर्थात् गौणवृत्तिसे प्रतिपादित है । सर्वज्ञ ब्रह्म है, ऐसा स्वीकार करनेवाले तुमको भी अवश्य सर्वज्ञानशक्तिमत् होनेसे ही ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व मानना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सदा ही सर्व विषयक ज्ञान करता हुआ नहीं रहता । यदि ज्ञान नित्य है तो ज्ञान क्रियाके प्रति ब्रह्मकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी, यदि वह अनित्य है तो ज्ञानक्रियाके न रहनेपर कदाचित् ब्रह्म उससे उपरत भी हो जायगा । इससे तो यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञान शक्तिमत्त्वसे ही ब्रह्ममें भी सर्वज्ञत्व प्राप्त होगा । किञ्च उत्पत्तिके पूर्व तुम ब्रह्मको सर्वकारकोंसे रहित मानते हो, तो ज्ञानके साधन शरीर, इन्द्रियादिके अभावमें ज्ञानकी उत्पत्ति किसीके मतमें भी युक्त नहीं है । सत्त्व, रज

सत्यानन्दी-दीपिका

गुणके अत्यन्त उत्कर्ष होनेपर देह और इन्द्रिययुक्त पुरुष योगी सर्वज्ञ होते हैं । उस सत्त्वगुणका अत्यन्त उत्कर्ष प्रधानमें तो है, अतः उसमें सर्वज्ञता मानना युक्त है ।

* सि०—अब यहाँ शंका होती है कि जब सांख्यमतसे प्रलयकालमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रधान है तो उस अवस्थामें रज और तम दोनों गुणोंकी समानरूपसे विद्यमानता होनेपर सत्त्वगुणका अत्यन्त उत्कर्ष कैसे हो सकता है और तदाश्रित प्रधानमें सर्वज्ञता किस प्रकार हो सकती है ? पू०—उस अवस्थामें प्रधान त्रिगुणात्मक है इस कारण उसमें सम्पूर्ण ज्ञानका कारणभूत सत्त्वगुण भी है, अतः अचेतन प्रधानमें वेदान्तवाक्योंद्वारा गौणवृत्तिसे सर्वज्ञता कही जा सकती है । किञ्च वेदान्त प्रतिपाद्य सर्वज्ञब्रह्मको अङ्गीकार करनेवाले तुमको भी ब्रह्मको सर्वज्ञ इसकारण स्वीकार करना होगा कि उसमें सर्वविषयक ज्ञान करनेकी शक्ति है । क्योंकि ब्रह्म सदा ही सब विषयोंका ज्ञान करता हुआ नहीं रहता । प्रलयकालमें अनित्य ज्ञानका तो नाश हो जाता है । किन्तु सत्त्वगुणमें सर्वज्ञताकी स्वरूप योग्यता रहती है, अतः उसका उत्कर्ष होनेपर ईश्वर सर्वज्ञता प्राप्त कर लेगा । इसलिए सत्त्वगुणमें सर्वज्ञताकी शक्ति अवश्य माननी चाहिए ।

* सांख्यमतमें जड़ प्रधान ही जगत्का कर्तृकारण है और पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्लेप है । पुरुषके भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के लिए प्रधान सृष्टि करनेमें प्रवृत्त होता है । प्रधान जड़ है, अतः एकाकी कुछ करनेमें समर्थ नहीं है और पुरुष असंग है, वह भी एकाकी कारण नहीं हो सकता । इसलिए प्रधान पुरुषके संयोगसे सृष्टि करनेमें प्रवृत्त होता है । जैसे सभामें नर्तकी अपना नृत्य दिखाकर हट जाती है, वैसे प्रधान भी पुरुषको अपना प्रपञ्च दिखाकर अर्थात् भोग और अपवर्ग संपादन कर निवृत्त हो जाता है । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' वस्तुतः पुरुष असंग होनेसे बन्ध और

ब्रह्मोष्यते त्वया । न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना । अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—ईक्षतेः, न, अशब्दम् ।

सूत्रार्थ—(अशब्दम्) श्रुति अप्रतिपादित होनेके कारण प्रधान जगत्का कारण (न) नहीं है, (ईक्षतेः) क्योंकि 'तदैक्षत' श्रुतिमें जगत्का कारण ईक्षण कर्ता कहा गया है, जड़ प्रधानमें ईक्षणकर्तृत्व नहीं है ।

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम् । अशब्दं हि तत् । कथमशब्दत्वम् ? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य । कथम् ? एवं हि श्रूयते–'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) **इत्युपक्रम्य** 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।३) **इति । तत्रेदं शब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजः प्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति । * तथान्यत्र**–'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।१।१) **इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे ।**

और तम इस भेदसे अनेकात्मक प्रधानका परिणाम सम्भव है, अतः वह मृत्तिकादिके समान कारण हो सकता है । परन्तु सङ्घात रहित असङ्ग अद्वितीय ब्रह्म नहीं । इसप्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इस सूत्रका आरम्भ किया जाता है—

सांख्य परिकल्पित अचेतन प्रधान जगत्का कारण वेदान्तोंमें नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह श्रुति सिद्ध नहीं है । यदि कहो कि श्रुति सिद्ध क्यों नही है ? इससे कि कारणमें ईक्षणकर्तृत्व सुना जाता है । कैसे ? 'सदेव सोम्य०' (हे प्रियदर्शन ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) ऐसा आरम्भ कर आगे कहा है—'तदैक्षत०' (उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक हो जाऊँ अर्थात् अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ, इसप्रकार ईक्षणकर उसने तेज उत्पन्न किया) यह श्रुति 'इदम्' शब्द वाच्य नाम-रूपसे अभिव्यक्त जगत्का उत्पत्तिके पूर्व सद्रूपसे निश्चयकर उसी प्रकृत सत् शब्द वाच्य (ब्रह्म) में ईक्षण पूर्वक तेज आदिका स्रष्टृत्व दिखलाती है । इसीप्रकार अन्य स्थलपर 'आत्मा वा०' (आरम्भमें एकमात्र आत्मा ही था, उसके सिवा अन्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं थी, उसने ईक्षण किया कि लोकोंकी रचना करूँ, उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन लोकोंकी रचना की) इसप्रकार यह श्रुति ईक्षण पूर्वक सृष्टिको कहती है । कहीं पर षोडशकल पुरुषको प्रस्तुत कर

सत्यानन्दी-दीपिका

मोक्षसे रहित है । धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन स्वभाव सिद्ध भावोंसे युक्त प्रधानका ही बन्ध और मोक्ष है, केवल पुरुषमें उनका व्यवहार मात्र होता है । जैसे सेवकके जय, पराजयका स्वामीमें गौण व्यवहार होता है, वैसे ही प्रधानके बन्ध और मोक्षका पुरुषमें केवल गौण व्यवहार होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत्का कारण प्रधान है । गत अधिकरणमें सर्ववेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्मको ही जगत्का कारण कहा गया है, परन्तु वह कूटस्थ होनेके कारण जगत्का कारण नहीं हो सकता, अपितु ज्ञान क्रिया शक्ति युक्त त्रिगुणात्मक प्रधान ही जगत् का कारण है, इसप्रकार आक्षेपसङ्गतिसे पूर्वपक्ष होनेपर इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है ।

* कलाओंसे रहित वह निष्फल पुरुष मायारूप उपाधिसे कलावान्की तरह प्रतीत होता है । **'स ईक्षांचक्रे'** (उपाधियुक्त उस षोडशकल पुरुषने ईक्षण किया कि किस कर्ता विशेषके देहसे उत्क्रमण

कश्चिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह–'स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६।३) इति। न धातुनिर्देशः। तेन 'यः सर्वज्ञः ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत्। न धातुनिर्देशः। तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मुण्ड० १।१।९) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि। * यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति; तन्नोपपद्यते। नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति। ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत, कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत। अपि च नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते। न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति। तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम्। योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदा-

---

'स ईक्षांचक्रे०' (उसने ईक्षण किया अर्थात् नाम रूपात्मक जगत्की उत्पत्तिका सङ्कल्प किया, उसने प्राणको उत्पन्न किया) ऐसा कहा है। 'यजति' के समान यहाँ 'ईक्षति' से धातुके अर्थका निर्देश अभिप्रेत है, धातु मात्रका निर्देश नहीं। इससे 'यः सर्वज्ञः०' (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है जिसका ज्ञानमय ही तप है, उससे यह हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है) इत्यादि सर्वज्ञ ईश्वर कारण परक वाक्य भी उदाहरणरूपसे देने चाहिएँ। जो यह कहा गया है कि सत्त्वगुणके धर्मरूप ज्ञानसे प्रधान सर्वज्ञ होगा, यह कथन युक्त नही है, क्योंकि प्रधानावस्थामें गुणोंका साम्य होनेसे सत्त्वगुणका धर्मरूप ज्ञान हो ही नहीं सकता। परन्तु जो यह कहा गया कि सर्वज्ञानके शक्तिमत्त्वसे प्रधान सर्वज्ञ होगा ? वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि गुणोंके साम्य होनेपर भी यदि सत्त्वगुणके व्यपाश्रय ज्ञानशक्तिका आश्रयणकर प्रधानको सर्वज्ञ कहो तो रजो और तमोगुण व्यपाश्रय ज्ञान प्रतिबन्धक शक्तिका आश्रयणकर (प्रधानको) अल्पज्ञ भी कहना होगा। और साक्षी रहित सत्त्वगुणकी वृत्तिका 'ज्ञा' धातुसे विधान नहीं किया जा सकता। अचेतन प्रधान साक्षी नहीं है, इस कारण प्रधानमें सर्वज्ञत्व अनुपपन्न है। योगी तो चेतन हैं, अतः उनमें सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण सर्वज्ञत्व युक्त है, इसलिए इस स्थलमें यह उदाहरण ठीक नहीं है। जैसे अयःपिण्डादिमें दग्धृत्व अग्निनिमित्तक है,

सत्यानन्दी-दीपिका

करनेपर मैं भी देहसे उत्क्रमण कर जाऊँगा और जिसके देहमें स्थित रहनेपर मैं भी देहमें स्थित रहूँगा) इसप्रकार पुरुषने ईक्षणकर 'स प्रणमसृजत प्राणाच्छ्राद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च' (प्रश्न० ६।८) (उस पुरुषने प्राण (हिरण्यगर्भ) की सृष्टिकी, फिर प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको तथा अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र (ऋग्वेदादि), कर्म (अग्निहोत्रादि) और लोकोंको एवं लोकोंमें (देवदत्तादि) नामको उत्पन्न किया) यह षोडशकला विषयक श्रुति है। यद्यपि 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' (इक् और श्तिप् प्रत्यय धातुके निर्देशमें होते है) इस कात्यायन वचनके अनुसार 'श्तिप्' प्रत्ययान्त 'ईक्षति' शब्द 'ईक्ष' धातुका वाचक है, तथापि 'इतिकर्तव्यताविधेः यजतेः पूर्ववत्त्वम्' (७।४।१) जैमिनिसूत्रमें जैसे 'यजति' पद 'यज' धातुको न कहकर लक्षणासे धात्वर्थ यागका बोधक है, वैसे यहाँ भी 'ईक्षति' पद 'ईक्ष' धातु को न कहकर धात्वर्थ ईक्षणका बोधक है।

* प्रधानमें सत्त्वगुणका उत्कर्ष तब होता जब उसके प्रतिबन्धक रजो और तमोगुण समान रूपसे विद्यमान न होते। इतना होनेपर भी यदि अभिनिवेशसे प्रधानको सर्वज्ञ कहो तो अवश्य

हरणम् । ※ अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम्; तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम् । यत्पुनरुक्तं—ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासंभवादिति । ※ अत्रोच्यते—इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति । यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम् । अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात् । नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति । ※ ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेन्न, प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेश-

---

वैसे ही प्रधानमें ईक्षितृत्व साक्षी निमित्तक है ऐसी यदि कल्पना करो तो प्रधानमें ईक्षितृत्वका जो निमित्त है वही सर्वज्ञ मुख्य ब्रह्म जगत्का कारण है, यह युक्त है । और यह जो कहा गया है कि ब्रह्ममें भी मुख्य सर्वज्ञत्व उपपन्न नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी नित्य ज्ञानक्रिया होनेके कारण ज्ञानक्रियाके प्रति उसकी स्वतन्त्रता असम्भव है । इस विषयमें कहते हैं—परन्तु पहले तो आप यह बताइए कि नित्य ज्ञानक्रियाके होनेपर सर्वज्ञताकी हानि किसप्रकार होगी ? सब पदार्थोंके प्रकाश करनेकी सामर्थ्य रखने वाला जिसका ज्ञान नित्य है और वह स्वयं असर्वज्ञ है, यह कथन विरुद्ध है ! यदि ज्ञानको ही अनित्य मानें तो कभी जानता है और कभी नहीं जानता है इसप्रकार ब्रह्म असर्वज्ञ भी होगा ? परन्तु ज्ञानके नित्यत्व पक्षमें यह दोष नहीं है । यदि कहो कि ज्ञानको नित्य माननेपर ज्ञानविषयक (ब्रह्ममें) स्वातन्त्र्य व्यपदेश अनुपपन्न है, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि निरन्तर-स्थायी

सत्यानन्दी-दीपिका

अल्पज्ञ भी कहना होगा, क्योंकि प्रलयमें प्रवर्तक रजोगुण और आवरक तमोगुणका भी तो समान उत्कर्ष है । ऐसी परिस्थितिमें अल्पज्ञता और सर्वज्ञता परस्पर विरुद्ध दोनों धर्म युगपत् प्रधानमें कैसे रहेंगे ? यदि कहो कि प्रधानावस्थामें केवल सत्त्वगुणका ही उत्कर्ष होता है अन्य गुणोंका नहीं, तो यह कथन केवल साहसमात्र है, क्योंकि इसमें कोई नियामक नहीं । साक्षीके विना केवल सत्त्वगुणकी वृत्ति भी ज्ञान नहीं होती, कारण कि वह जड़ है । साक्षी चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्तवृत्तिको ज्ञान कहा जाता है और उसीसे वस्तुका ज्ञान होता है । अचेतन प्रधान भी साक्षी नहीं है, इस कारण प्रधानमें सर्वज्ञत्व भी असंभव है । योगी पुरुष तो चेतन हैं, अतः उनमें सत्त्वगुणके उत्कर्ष और अन्य गुणोंके अपकर्षके कारण सर्वज्ञता हो सकती है । इसलिए प्रधानके विषयमें सत्त्व उत्कर्ष युक्त योगी पुरुष सर्वज्ञ होते हैं, यह उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधान अचेतन है और योगी पुरुष चेतन हैं ।

※ अब ईश्वरवादी पातञ्जलमतका 'अथ पुनः' इत्यादिसे दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् भाष्यकार निराकरण करते हैं ।

※ सर्वज्ञत्वका अर्थ सर्वविषयक ज्ञान है ज्ञानकर्तृत्व नहीं अर्थात् सभी पदार्थोंको जानना ही सर्वज्ञता है, क्योंकि ईश्वर ज्ञानको किसी करण (प्रयत्न) द्वारा उत्पन्न नहीं करता प्रत्युत वह तो नित्य है । नित्यत्वके साथ व्यापकत्वका अविनाभाव सम्बन्ध है । ज्ञान नित्य होनेके कारण ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी हानि कदापि नहीं हो सकती । यदि ज्ञानको अनित्य मानें तो ब्रह्ममें असर्वज्ञता आ सकती है जैसे संसारी जीवोंमें देखी जाती है । परन्तु ज्ञानके नित्य होनेसे ब्रह्ममें अल्पज्ञता दोष भी नहीं है ।

※ शंका—यदि ज्ञानको नित्य मानें तो नित्य ज्ञानके प्रति ब्रह्म स्वतन्त्र नहीं होगा, इसके साथ 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' (जो सभीको जानता है वह सर्वज्ञ है) यह सर्वज्ञताकी सर्वमान्य

दर्शनात्। ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, न तु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः। * न; असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्। एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत'(छान्दो० ६।२।३) इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति? तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति। यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादि-

---

उष्णता और प्रकाशसे युक्त सूर्यमें भी जलाता है प्रकाश करता है इसप्रकार स्वतन्त्र शब्द व्यवहार देखा जाता है। यदि कहो कि सूर्यका दाह्य तथा प्रकाश्य पदार्थोंके साथ संयोग होनेपर जलाता है प्रकाश करता है ऐसा व्यपदेश होता है, तो यहां जगत्की उत्पत्तिके पहले ब्रह्मके ज्ञानका कर्मके साथ संयोग (सम्बन्ध) ही नहीं है, इससे यह दृष्टान्त विषम है। यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मके न होनेपर अर्थात् कर्मके अविवक्षित होनेपर भी 'सूर्य प्रकाश करता है' जैसे सूर्यमें कर्तृत्व व्यपदेश हो सकता है, वैसे ही ज्ञानका कर्म न होनेपर भी 'तदैक्षत' इसप्रकार ब्रह्ममें कर्तृत्व व्यपदेश हो सकता है। इसलिए सूर्यके दृष्टान्तसे कोई वैषम्य नहीं है। कर्मकी अपेक्षामें तो ब्रह्ममें ईक्षण-कर्तृत्व प्रतिपादक श्रुतियाँ सुतरां उपपन्न हैं। यदि पूछो कि वह कर्म क्या है जो कि उत्पत्तिके पहले ईश्वरके ज्ञानका विषय होता है? हम कहते हैं—जो सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है, और है तो अव्याकृत (अव्यक्त) परन्तु व्याकृत (अभिव्यक्त) करनेके लिए इष्ट है वह नाम, रूप ही तो कर्म है। योग शास्त्रवेत्ता भी यही कहते हैं कि जिस ईश्वरके प्रसादसे ही योगी पुरुषोंको भी जब भूत और भविष्यत् विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो उस नित्य स्वयं सिद्ध ईश्वरका जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार विषयक ज्ञान नित्य हो, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या है। जो यह

सत्यानन्दी–दीपिका

व्युत्पत्ति है। यदि ब्रह्ममें ज्ञानकर्तृत्व मानें तो यह व्युत्पत्ति कैसे सिद्ध होगी? समाधान—यद्यपि शुद्ध प्रकाशस्वरूप ज्ञान नित्य है, तथापि जैसे नैयायिक आकाशको नित्य मानते हुए भी अनित्य घटादि उपाधिसे अनित्य मानते हैं, क्योंकि 'घटाकाशो जातः' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे तत्, तत् विषयरूप उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्मस्वरूपसे उसमें भेदकी कल्पनाकर अनित्यत्वका गौण व्यवहार होता है। इसप्रकार अनित्यज्ञानके प्रति ब्रह्ममें कर्तृत्व व्यवहार हो सकता है। जैसे सदा ही उष्ण और प्रकाशरूप होनेपर भी सूर्यमें दाह और प्रकाशरूप क्रियाके प्रति कर्तृत्व व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें भी **'तदैक्षत'** यह ईक्षणरूप ज्ञानकर्तृत्व व्यवहार माना जाता है।

* इसप्रकार निरीश्वरवादी सांख्यके प्रति ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व सिद्धकर अब ईश्वरवादी पातञ्जल मतावलम्बियोंके प्रति ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व सिद्ध किया जाता है। पातञ्जल मतानुसार **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** (यो० सू० १।२४) (अविद्या, अस्मिता (अहंकार) राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं, ये क्लेश-दुःख देते हैं, अतः क्लेश कहे जाते हैं, शुभ, अशुभ और मिश्रित भेदसे कर्म तीन प्रकारके हैं, विपाक-कर्मफल (जन्म, आयु और भोग)। कर्म फलोंसे चित्तमें उत्पन्न वासना-संस्कार-आशय हैं, इन सभीसे असम्बन्धित संसारी पुरुषोंसे विलक्षण ईश्वर है) यह ईश्वरका लक्षण है। **'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'** (यो० सू० १।२९) ईश्वरके प्रणि-

शरीरादि सम्बन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति; सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनवरणज्ञानतां च दर्शयतः—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता० ६।८) इति। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वेता० ३।१९) इति च। ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी; 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति ? अत्रोच्यते—सत्यम्; नेश्वरादन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः। तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टो घट-

---

कहा गया है कि उत्पत्तिके पहले शरीरादिके साथ सम्बन्धके विना ब्रह्ममें ईक्षणकर्तृत्व अनुपपन्न है। इस आक्षेपका अवकाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्मका ज्ञानस्वरूप सूर्यप्रकाशके समान नित्य है, अतः उसे ज्ञानके लिए साधनोंकी अपेक्षा नहीं हो सकती, और अविद्यादि युक्त संसारी जीवको ज्ञानोत्पत्तिमें भले ही शरीरादिकी अपेक्षा हो, परन्तु ज्ञान प्रतिबन्धक कारणोंसे रहित ईश्वरको ज्ञान होनेमें शरीरादि की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि 'न तस्य०' (उस परमात्माके कार्य (शरीर), करण (नेत्रादि इन्द्रिय) नहीं हैं, उसके समान और उससे अधिक कोई देखनेमें नहीं आता। उस ईश्वरकी मायारूप पराशक्ति स्वभावसे ही ज्ञान, बल तथा क्रिया भेदसे विविधरूपसे श्रुतियोंमें प्रतिपादित है) तथा 'अपाणिपादो०' (वह हाथ, पैरसे रहित होकर भी अतिवेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, नेत्र रहित होकर भी देखता है और श्रोत्र रहित होकर भी सुनता है, वह सम्पूर्ण वेद्यवर्गको जानता है, किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं उसको प्रथम पुरुष-पूर्ण और महान् कहते हैं) ये दो मन्त्र ईश्वरको शरीरादिकी अनपेक्षता और अनावरणज्ञानता दिखलाते हैं। परन्तु तुम्हारे मतमें तो ईश्वरसे भिन्न ज्ञान प्रतिबन्धक कारणवाला कोई संसारी है ही नहीं, क्योंकि 'नान्यो०' (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है उससे अन्य विज्ञाता नहीं है) ऐसी श्रुति है। तो यह कैसे कहते हो कि जीवको ज्ञानोत्पत्तिमें शरीरादिकी अपेक्षा है और ईश्वरको नहीं ? इसपर कहा जाता है—यद्यपि यह सत्य है कि ईश्वरसे अन्य संसारी नहीं है, तो भी जैसे घट, करक (कमण्डलु), गिरि गुफा आदि उपाधियोंके साथ आकाशका सम्बन्ध है, वैसे ही देहादि सङ्घातरूप उपाधिके साथ (ईश्वरका) सम्बन्ध इष्ट ही है। जैसे आकाशसे अभिन्न होनेपर भी उपाधि सम्बन्ध कृत घटाकाश, करकाकाश आदि शब्द व्यवहार और ज्ञान व्यवहार लोकमें देखे गये हैं और उपाधि सम्बन्ध कृत घटाकाशादि भेदरूप मिथ्याबुद्धि आकाशमें देखी गई है, वैसे यहाँ भी देहादि सङ्घातरूप

सत्यानन्दी-दीपिका

ध्यानसे व्याधि आदि विघ्न निवृत्त हो जाते हैं और योगीको अन्तरात्माका दर्शन होता है) यह ईश्वर उपासनाका फल है। 'भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति ज्ञानवैराग्यादिना' (उपासना विशेषसे प्रसन्न हुआ ईश्वर उस योगीपर ज्ञान और वैराग्य आदिसे अनुग्रह करता है) इसप्रकार जब ईश्वर अनुग्रहसे योगीको इतना ज्ञान प्राप्त होता है तो ईश्वरके नित्यज्ञानमें शंकाका अवकाश ही कहाँ है ?

* शङ्का—प्रकाशमें अन्धकारके समान अखण्ड चिद्रूप आत्मामें जब अविद्यारूप अविवेक ही सिद्ध नहीं हो सकता, तो फिर अविद्याके अधीन संसारित्वकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? समाधान—

च्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि; तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेद-मिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसङ्घातोपाधिसम्बन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्या-बुद्धिः। ॐ दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसङ्घातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्या-बुद्धिमात्रेण पूर्वपूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्र-धानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते, न प्रधानादीनां तथा प्रपञ्चयिष्यति-'न विलक्षणत्वादस्य-' (ब्र० २।१।४) इत्येवमादिना ॥५॥

अत्राह-यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणम्, ईक्षितृत्वश्रवणादिति, तदन्यथाप्यु-पपद्यते; अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्न-सर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते, यस्माच्चेतनवदुपचर्यते। कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय

उपाधिके साथ सम्बन्धके अविवेकसे उत्पन्न हुई ईश्वर और संसारीकी भेदरूप मिथ्याबुद्धि है। सङ्घातसे अतिरिक्त आत्माका देहादि सङ्घातरूप अनात्मपदार्थोंमें आत्मत्वका अभिनिवेश पूर्व पूर्व मिथ्याबुद्धिसे ही देखा जाता है। और इस प्रकार संसारित्वके सिद्ध होने पर संसारीमें देहादिकी अपेक्षा करनेवाला ईक्षितृत्व युक्त है। यह जो कहा गया है कि मृत्तिकादिके समान अनेकात्मक होनेसे प्रधान जगत्का कारण हो सकता है, परन्तु अकेला ब्रह्म नहीं, वह तो 'प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है' इससे ही निराकृत हो गया। जिस प्रकार युक्तिसे ब्रह्म ही जगत्का कारण हो सकता है प्रधानादि नहीं, यह सब 'न विलक्षणत्वादस्य' इत्यादि सूत्रोंद्वारा विस्तारपूर्वक कहेंगे ॥ ५ ॥

इसपर पूर्वपक्षी कहता है—जो यह कहा गया है कि कारणमें ईक्षितृत्वका श्रवण होनेसे अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं है, वह अन्य प्रकारसे भी उपपन्न होता है, क्योंकि अचेतनमें भी गौण-वृत्तिसे चेतनका-सा व्यवहार देखा जाता है। जैसे नदीका तट नीचेसे [मिट्टीके बह जानेके कारण] टूटकर जल्दी गिरता देखकर [कोई कहे] तट गिरना चाहता है, तो यहाँ अचेतन तटमें जैसे चेतनका-सा व्यवहार देखनेमें आता है, वैसे ही सृष्टि समीप होनेपर अचेतन प्रधानमें भी 'उसने ईक्षण किया' इसप्रकार चेतनका-सा व्यवहार हो जायगा। अथवा लोकमें जैसे कोई पुरुष स्नानानन्तर भोजनकर अपराह्णमें रथसे ग्राम जाऊँगा, इस प्रकारका ईक्षणकर अनन्तर नियमसे वैसे ही प्रवृत्त होता है, वैसे ही प्रधान भी महद् आदिके आकारसे नियमतः प्रवृत्त (परिणत) होता है। इसलिए उसमें चेतनका-सा उपचार किया जाता है। परन्तु प्रधानमें मुख्य ईक्षितृत्व (ईक्षण कर्तृत्व) का त्यागकर गौणकी

सत्यानन्दी-दीपिका

पूर्वं पूर्वं अनुभवजन्य संस्कारोंद्वारा भ्रान्तिरूप मिथ्याबुद्धिसे देहादि अनात्मपदार्थोंमें 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि जो आत्मत्व अभिमान है वह अविद्यासे कल्पित है। सामान्य चेतनात्मा अविद्याका विरोधी नहीं, अपितु उसका पोषक है। जैसे सामान्य अग्नि वृक्षादिका पोषक है। विशेषरूपसे अभिव्यक्त वही अग्नि वृक्षादिका दाहक है, वैसे ही 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न चेतन-प्रतिबिम्बित ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्ति (विद्या) अविद्याकी निवर्तिका है, इसलिए आत्मामें अविद्या-रूप अविवेक सिद्ध है। इससे अविद्यामें प्रतिबिम्बित चेतनरूप जीव भी सिद्ध है। इस प्रकार ईश्वरसे अन्य संसारी सिद्ध होनेसे उसे ईक्षणके लिए देहादि साधनोंकी अपेक्षा है किन्तु ईश्वरको नहीं ॥ ५ ॥

मुख्यमिक्षतृत्वमौपचारिकं कल्प्यते ? 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' (छान्दो० ६।२।३,४) इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात् । तस्मात्सत्कर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति । एवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—गौणः, चेत्, न, आत्मशब्दात् ।

सूत्रार्थ—(गौणः) प्रधानमें ईक्षितृशब्द गौण है, (चेन्न) यदि ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, (आत्मशब्दात्) क्योंकि 'एतदात्म्यम्' श्रुतिसे जगत् कारणमें आत्मशब्दका प्रयोग किया गया है । इसलिए चेतन ही जगत्का कारण है ।

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं, तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः; अप्तेजसोरिवेति । तदसत्; कस्मात् ? आत्मशब्दात् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।१,३) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि, देवताशब्देन परामृश्याह—* 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दो० ६।३।२) इति । तत्र यदि प्रधान-

---

कल्पना क्यों की जाती है ? यदि कहो कि 'तत्तेजो०' (उस तेजने ईक्षण किया) 'ता आप०' (उस जलने ईक्षण किया) इस प्रकार जैसे अचेतन तेज और जलमें चेतनके समान उपचार देखनेमें आता है, अतः सत्कर्तृक ईक्षण भी औपचारिक है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि उपचार प्रचुर प्रकरणमें उसका कथन है अर्थात् जिस प्रकरणमें बहुत स्थलोंमें गौण अर्थ माना जाता है उसी प्रकरणमें पठित होनेसे इसमें भी गौण ईक्षण होना चाहिए। इसप्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इस सूत्रका आरम्भ किया जाता है–

जो यह कहा गया है कि अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य है, उसमें जल और तेजके समान 'ईक्ष' धातुका प्रयोग औपचारिक है । वह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आत्मशब्द है । जैसे 'सदेव सोम्य०' (हे सोम्य ! आरम्भमें यह केवल सत् ही था) ऐसा आरम्भ कर 'तदैक्षत' (उसने ईक्षण किया, उसने तेज उत्पन्न किया) इसप्रकार तेज, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर उस ईक्षिता प्रकृत सत्का तथा इन तेज, जल और अन्नका देवता शब्दसे परामर्श कर पुनः 'सेयं देवता०' (उस सत् नामवाले देवताने ईक्षण किया कि अब मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेशकर

सत्यानन्दी-दीपिका

* जैसे अचेतन तेज और जलमें ईक्षण गौण है, वैसे ही अचेतन प्रधानमें भी ईक्षण गौण है । इस सांख्य मतका भगवान् सूत्रकार और भाष्यकार खण्डन करते हैं—सेयं देवतैक्षत' इस श्रुतिमें ईक्षण कर्ताको 'अनेन जीवेनात्मना' इसप्रकार आत्मशब्दसे निर्देश किया गया है । और इसी श्रुतिमें जगत्की उत्पत्तिका ईक्षण करनेवाले सद्रूप ब्रह्मका तथा तेज, जल और अन्न (पृथिवी) का देवता शब्दसे ग्रहण किया गया है । 'सेयं देवतैक्षत०' इस श्रुतिमें देवता पदका दो वार निर्देश पाया जाता है 'सेयं देवता' और 'तिस्रो देवता' इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम देवता शब्दसे सद्रूप चैतन्य ब्रह्मका और दूसरे देवता शब्दसे अपंचीकृत तेज, जल और अन्नका ग्रहण है । सृष्टिके पहले अव्याकृत होनेके कारण ये तीनों अस्मदादिसे प्रत्यक्षके अयोग्य थे, अतः जगत्के कारणभूत सद्रूप चेतन देवताने संकल्प किया कि 'अनेन जीवेनात्मना०' पूर्व सृष्टिका अनुभव करनेवाला स्वरूपभूत जीवात्मरूपसे मैं अव्याकृत तेज, जल और अन्न तीनोंमें अनुप्रवेशकर इनको अभिव्यक्त करूँ । इन तीनोंमें जीवात्मरूपसे ब्रह्म देवताका वास होनेके कारण देवता शब्दका गौण प्रयोग किया गया है अथवा भोगके साधन होनेसे इनका देवताशब्दसे गौण निर्देश किया गया है ।

मचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत, तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत। न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात्। * जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता; तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च। स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत्? आत्मा हि नाम स्वरूपम्। नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति। अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते, तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते। तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।१४।३) इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति। अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वम्; नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव

नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) ऐसा कहा है। यदि इस ईक्षण वाक्यमें अचेतन प्रधानको गौण-वृत्तिसे ईक्षणकर्ता माना जाय तो प्रकृत होनेसे 'सेयं देवता' इस श्रुतिमें उसीका परामर्श होगा? ऐसा मानें तो 'सेयं देवता' 'अनेन जीवेनात्मना' वह देवता जीवका आत्मशब्दसे अभिधान नहीं करेगा। क्योंकि जीव चेतन शरीरका स्वामी और प्राणोंका धारण करनेवाला है, यह अर्थ लोक प्रसिद्धि और व्युत्पत्तिके अनुसार है। वह चेतन जीव अचेतन प्रधानका आत्मा किस प्रकार होगा? आत्माका अर्थ स्वरूप है, अतः सुतरां चेतन जीव अचेतन प्रधानका स्वरूप नहीं हो सकता। यदि चेतन ब्रह्म मुख्य ईक्षिता ग्रहण किया जाय तो वहाँ उस (पर देवता) का जीवविषयक आत्मशब्दका प्रयोग युक्त है। इसी प्रकार 'स य एषो०' (जो यह सद्रूप है वह अतिसूक्ष्म है, एतद्रूप ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु! वह तू है) इस श्रुतिमें 'वह आत्मा है' इस प्रकृत सत्संज्ञक अतिसूक्ष्म आत्माका आत्मशब्दसे उपदेशकर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो०' (हे श्वेतकेतु! वह तू है) इसप्रकार श्रुति चेतन श्वेतकेतुको आत्मशब्दसे उपदेश करती है। जल और तेजमें विषयता होनेसे अचेतनत्व है। नाम रूपकी सृष्टि आदि करनेमें [जल और तेजका] प्रयोज्यरूपसे निर्देश है।

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'जीव प्राणधारणे' 'जीवति प्राणान्धारयतीति जीवः' (जीता है और प्राणोंको धारण करता है वह जीव है) इस व्युत्पत्ति और लोक प्रसिद्धिके अनुसार जीव चेतन सिद्ध होता है। आत्मा शब्दका अर्थ स्वरूप है, अतः यह स्पष्ट है कि चेतन जीव अचेतन प्रधानका स्वरूप नहीं हो सकता।

वेदान्त सिद्धान्तमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद औपाधिक होनेसे कल्पित है। जैसे दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बरूप मुखसे भिन्न नहीं है, क्योंकि उसकी पृथक् प्रतीति केवल दर्पणरूप उपाधिकी विद्यमानतासे है, अतः औपाधिक होनेसे दोनोंका भेद कल्पित है, वैसे ही बिम्बरूप ब्रह्मका अविद्या उपाधिमें प्रतिबिम्ब जीव है और माया उपाधिमें प्रतिबिम्ब ईश्वर है। इसलिए जीव ब्रह्मका भेद औपाधिक होनेसे कल्पित है वास्तविक नहीं, अतः जीव सद्रूप ब्रह्मका आत्मा (स्वरूप) है यह कथन सर्वथा युक्त है। 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुतिमें 'स' शब्दके द्वारा उपक्रममें 'सदेव सोम्य' इस श्रुति वाक्यमें ईक्षण कर्ता सत्का परामर्श किया गया है और उसके लिए यह आत्मशब्दका प्रयोग है, इस कारण सत् शब्दका अर्थ अचेतन प्रधान नहीं है प्रत्युत चेतन है। अतः 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यह श्रुति चेतन श्वेतकेतुको सत् आत्मरूपसे उपदेश करती है। यदि यहाँ 'सत्' शब्दसे प्रधानका ग्रहण किया जाय तो चेतन श्वेतकेतुको तू अचेतन प्रधानरूप है, ऐसा कहना होगा। परन्तु यह युक्त नहीं है।

* चेतन कर्तृक ईक्षणमें मुख्यत्वका साधक जैसे आत्मशब्द है, वैसे तेज और जल कर्तृक ईक्षणमें नहीं है, अतः दोनोंका ईक्षितृत्व गौण है। अथवा दोनोंका भी ईक्षितृत्व लक्षणावृत्तिसे

निर्देशात्। न चात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य। तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम्। सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम्।६

* अथोच्येत–अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः; आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः। अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति; भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात्। यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः। तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमिति–अत उत्तरं पठति—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—तन्निष्ठस्य, मोक्षोपदेशात्।

सूत्रार्थ—(तन्निष्ठस्य) सत्‌में निष्ठा रखनेवाले चेतन पुरुषके लिए ही 'अथ संपत्स्ये' श्रुतिने (मोक्षोपदेशात्) मोक्षका उपदेश किया है।

* न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।८।७) इति, चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य

आत्मशब्दके समान उन (जल और तेज) का मुख्य ईक्षितृत्व माननेमें कोई कारण नहीं है। जल और तेजका ईक्षितृत्व तो नदीतटके गिरनेकी इच्छाके समान गौण होना युक्त है। दोनोंका ईक्षितृत्व भी लक्षणावृत्तिसे सद्रूप अधिष्ठानकी अपेक्षासे ही है, और यह कहा गया है कि आत्मशब्दके प्रयोगके कारण सत्‌का ईक्षितृत्व गौण नहीं है ॥ ६ ॥

यदि कहो कि जैसे राजाके सब प्रयोजन सिद्ध करनेवाले सेवकमें 'भद्रसेन मेरा आत्मा है' इसप्रकार आत्मशब्दका प्रयोग होता है, वैसे अचेतन प्रधानमें भी आत्मशब्दका प्रयोग होता है, क्योंकि वह आत्माके सब प्रयोजन सिद्ध करता है। जैसे सन्धि (मेल), विग्रह (युद्ध) आदि कार्योंमें नियुक्त सेवक राजाका उपकार करता है, वैसे ही पुरुष-आत्माके लिए भोग और मोक्षका सम्पादन करता हुआ प्रधान भी आत्माका उपकार करता है। अथवा जैसे एक ही 'ज्योतिः' शब्द यज्ञ और अग्निमें प्रयुक्त होता है, वैसे एक ही आत्मशब्द चेतन और अचेतनमें प्रयुक्त होगा, क्योंकि 'भूतात्मा, इन्द्रियात्मा' ऐसे प्रयोग देखनेमें आते हैं। तो केवल आत्मशब्दके प्रयोगसे ईक्षति (ईक्ष् धातु) मुख्य है यह कैसे माना जाय ? इसका उत्तर कहते हैं—

अचेतन प्रधान आत्मशब्दका आलम्बन नहीं हो सकता, क्योंकि 'स आत्मा' (वह आत्मा है) इस प्रकार प्रकृत सूक्ष्म सत्‌को लेकर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' मोक्ष प्राप्त कराने योग्य चेतन श्वेतकेतुको

सत्यानन्दी-दीपिका

सद्रूप अधिष्ठानकी अपेक्षासे है। इस कारण 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतियोंका मुख्य ईक्षणकर्तृ चेतन ब्रह्ममें ही तात्पर्य है, अतः चेतन ब्रह्म ही जगत्‌का कारण है अचेतन प्रधान नहीं ॥ ६ ॥

* पूर्वपक्षीने राजा और सेवकका उदाहरण देकर प्रधानमें आत्मशब्द और तत्प्रयुक्त ईक्षण भी गौण सिद्ध किया है। परन्तु अब 'अथवा' इत्यादिसे प्रधानमें आत्मशब्द और ईक्षितृत्व दोनों मुख्य सिद्ध करता है।

* पहले पूर्वपक्षीद्वारा अचेतन प्रधानमें गौण अथवा मुख्यरूपसे आत्मशब्दका प्रयोग सिद्ध करनेके लिए किया गया सारा प्रयास व्यर्थ है, इसे 'न' आदि भाष्यसे कहते हैं।

तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति मोक्षोपदेशात्। यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति, तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात्। न तु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम्। यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रम्, स श्रद्दधानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत्। * तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति, तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम्। एवं च सति तप्त-

'तू सत्स्वरूप है' इस प्रकार उपदेशकर 'आचार्यवान्०' (आचार्यवान् पुरुष ही सद्रूप ब्रह्मको जानता है, उस आत्मनिष्ठ पुरुषके मुक्त होनेमें उतना ही विलम्ब है जब तक वह देह (सूक्ष्म देह) बन्धनसे मुक्त नहीं होता उसके अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है) ऐसा मोक्षका उपदेश किया है। यदि अचेतन प्रधान ही सत् शब्द वाच्य हो तो शास्त्र चेतन मुमुक्षुको 'तदसि' (वह तू है) अर्थात् 'तू अचेतन है' यदि ऐसा ग्रहण करावे तो इस प्रकार विपरीतवादी शास्त्र पुरुषके अनर्थके लिए होगा, इससे शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। परन्तु इस तरह इस निर्दोष शास्त्रमें अप्रमाणत्वकी कल्पना युक्त नहीं है। यदि प्रमाणभूत शास्त्र अज्ञ मुमुक्षुको 'अचेतन अनात्म पदार्थको आत्मा है, ऐसा उपदेश करे तो अन्धगोलाङ्गूलन्यायसे [शास्त्रोंमें] श्रद्धा रखनेवाला वह पुरुष इस उपदेशसे अनात्म पदार्थोंमें हुई आत्मदृष्टिका कभी त्याग नहीं करेगा और अनात्मपदार्थोंसे भिन्न [शास्त्र सिद्ध] आत्माको भी प्राप्त नहीं करेगा, इस तरहसे वह पुरुष अपने परम पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जायगा और अनर्थको प्राप्त होगा। इस कारण स्वर्ग आदिकी कामना करनेवाले पुरुषको जैसे अग्निहोत्र आदि उपयुक्त साधनोंका शास्त्र उपदेश करता है, वैसे मुमुक्षुके लिए भी 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस प्रकार यथार्थ आत्माका ही शास्त्र उपदेश करता है यह युक्त है। ऐसा होनेसे तपाये हुए फरसेके

सत्यानन्दी-दीपिका

* अब भगवान् भाष्यकार एक ऐसा स्पष्टीकरण उपस्थित करते हैं जिससे सुतरां यह निर्णय किया जा सकता है कि आत्मशब्दसे प्रधानका कभी ग्रहण सम्भव नहीं। यह तो मानी हुई बात है कि सांख्यमतमें प्रधान अचेतन है और आत्मशब्दका मुख्यार्थ चेतन है। फिर भी यदि सत् शब्दका वाच्यार्थ प्रधानको मानें तो 'तत्त्वमसि' इसमें 'तत् पदसे अचेतन प्रधानका ही ग्रहण होगा, तब तो चेतन मुमुक्षुको 'त्वमचेतनोऽसि' अर्थात् 'अचेतन प्रधान तू है' इस प्रकार विपरीत उपदेश करनेवाला शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। और इस प्रकारके उपदेशसे अन्धगोलागूल न्यायके समान वह मुमुक्षु अनर्थको ही प्राप्त होगा। 'अन्धगोलाङ्गूलन्याय' इस प्रकार है—बड़े जङ्गलमें मार्गके निकट अपने बन्धुके नगरमें जानेकी कामना करनेवाले एक अन्धेसे किसी दुष्टात्माने पूछा कि तुम यहाँ क्यों पड़े हो ? तब उसने नगरमें जानेकी असामर्थ्य प्रकट की। उसे अधिक कष्ट देनेकी भावनासे उस दुष्टात्माने एक मस्त साँढ लाकर उसकी पूँछ हाथमें पकड़ाकर अन्धेको कहा कि यह बैल तुमको नगरमें पहुँचा देगा परन्तु तुम इसकी पूँछ छोड़ना नहीं। अन्धेने भो वैसा ही किया और महान् कष्टका अनुभव किया।

* श्वेतकेतुको विशेष समझानेके लिए उद्दालकने 'स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति' (छा० ६।१६।१) (इसने चोरीकी है, अत: इसके लिए फरसा तपाओ) यह दृष्टान्त कहा है। इसका तात्पर्य यह है—राजपुरुष किसी व्यक्तिको चोरीके सन्देहमें पकड़कर राजाके पास लाये। राजाने कहा कि

परशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २।१।२।६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात्। तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत। तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम्। भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपि च क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या; सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तम्—चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति,—तन्न; अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद्भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च। साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते। *न चात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति। प्रकृतं तु सदीक्षितृ, संनिहितश्चेतनः श्वेतकेतुः। नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम। तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द

पकड़नेसे [चोरीसे] मुक्त हुए पुरुषकी तरह सत्यमें निष्ठा रखनेवाले मुमुक्षुके लिए शास्त्रका मोक्षोपदेश भी उपपन्न है अन्यथा—सदात्मतत्त्वोपदेशको गौण मानें तो 'अहमुक्थम०' (मैं प्राण हूँ ऐसा जाने) इसके समान यह केवल संपद्रूप और अनित्य फलवाला होगा। और उससे मोक्षोपदेश उपपन्न नहीं होगा। इसलिए परम सूक्ष्म सत्‌में आत्मशब्द गौण नहीं है। 'भद्रसेन मेरा आत्मा है' यहाँ तो सेवकके लिए आत्मशब्द गौण है, यह युक्त है, क्योंकि यहाँ स्वामी और सेवकका भेद प्रत्यक्ष है। और यदि कहीं पर गौण शब्द देखा गया हो तो इतने मात्रसे शब्दके प्रामाणिक अर्थमें भी गौणत्वकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि इस तरहसे तो सर्वत्र शब्दार्थके सम्बन्धमें अविश्वास प्रसंग होगा। जो यह कहा गया है कि जैसे ज्योतिः शब्द याग और अग्निमें साधारण है, वैसे ही आत्मशब्द भी चेतन और अचेतनमें साधारण है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि एक शब्दके अनेक अर्थ मानना अनुचित है। इससे चेतन विषयक ही आत्मशब्द मुख्य है और जो भूतादिमें भूतात्मा, इन्द्रियात्मा इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग होता है यह तो चेतनत्वके उपचारसे होता है। यदि आत्मशब्द चेतन और अचेतनमें साधारण मानें तो प्रकरण अथवा उपपद किसी एक निश्चायकके विना दोनोंमें से किस अर्थमें आत्मशब्द प्रयुक्त है, इसका निश्चय नहीं हो सकता। और यहाँ अचेतनका निश्चायक कोई हेतु नहीं है, प्रत्युत यहाँ प्रकृत ईक्षणकर्तृ सत्‌के सन्निकट चेतन श्वेतकेतु [पठित] है। अचेतन पदार्थ चेतन श्वेतकेतुका आत्मा (स्वरूप) नहीं हो सकता, ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए ऐसा निश्चय कि ा जाता है कि यहाँ आत्मशब्द चेतन विषयक ही है। ज्योतिः शब्द भी लौकिक प्रयोगसे प्रसिद्ध

सत्यानन्दी-दीपिका

इसके हाथमें तप्त फरसा पकड़ा दो। यदि अचोर होगा तो इसका हाथ न जलेगा और मुक्त कर दिया जायगा अन्यथा दण्डित किया जायगा। वह व्यक्ति चोर नहीं था, अतः हाथमें तप्त फरसा पकड़ने पर हाथके न जलनेसे वह मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार हे वत्स ! इस सद्रूप ब्रह्ममें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो सत्यवादी है वह संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है, अन्यथा नहीं। जीवका प्रधानके साथ यदि अभेद मानें तो वह संपद्रूप उपासना होनेसे निश्चित अनित्य फलवाला होगा; तब तो 'तस्य तावदेव चिरं' यह मोक्ष प्रनिपादक श्रुति बाधित होगी।

* 'सदेव सोम्य' इस श्रुति वाक्यस्थ 'सत्' पदका तथा 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस श्रुतिस्थ 'तत्' पदका अर्थ जगत् कारण ईक्षण कर्ता चेतन है। जैसे उसमें आत्मत्वका निश्चायक 'सदेव सोम्य'

इति निश्चीयते। ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढः, अर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः। अथवा-पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः-'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति। तस्मान्नाचेतन प्रधान सच्छब्दवाच्यम् ॥ ७॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्?

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—हेयत्वावचनात्, च।

सूत्रार्थ—प्रधानमें निष्ठा रखनेवाला न हो जाय, इससे निषेध वचन भी नहीं कहा गया है, अतः स्थूलारुन्धती न्यायसे भी प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है। (च) शब्द विरोध संग्रहार्थ है।

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इतीहोपदिष्टं स्यात्, स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति, तद्वन्नायमात्मेति

अग्निमें ही मुख्य है, परन्तु अर्थवादसे कल्पित अग्निके सादृश्यसे यागमें प्रवृत्त होता है, अतः यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। अथवा [गौणश्चेन्नात्मशब्दात्] इस पूर्व सूत्रमें ही आत्मशब्दका गौणत्व, साधारणत्व विषयक सब शङ्काओंका निराकरण कर व्याख्यान किया गया है। इसलिए 'तन्निष्ठस्य' यह सूत्र प्रधान कारणवादके निराकरणार्थ स्वतन्त्र ही हेतु है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। इससे अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ७ ॥

प्रधान सत् शब्दका वाच्यार्थ क्यों नहीं है ?

यदि अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द वाच्य हो तो 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुतिमें भी वह उपदिष्ट होता, तब उस उपदेशको सुनकर अनात्मज्ञ होनेसे वह श्वेतकेतु कहीं अनात्मनिष्ठ न हो जाय, इसलिए मुख्य आत्माके उपदेशको इच्छा करनेवाले आचार्यको अनात्माकी हेयता कहनी चाहिए। जैसे अरुन्धती ताराको दिखलानेकी इच्छा करनेवाला उसके समीपस्थ किसी एक अमुख्य स्थूल ताराको 'यह अरुन्धती है' पहले ऐसा ग्रहण कराकर पश्चात् उसका निषेधकर मुख्य अरुन्धतीको ही दिखलाता है, वैसे ही यह (प्रधान) आत्मा नहीं है, ऐसा कहना चाहिए, परन्तु उसने ऐसा कहा नहीं, केवल सद्रूप आत्माकी ज्ञाननिष्ठा करानेमें ही छान्दोग्यके छठे अध्यायकी समाप्ति देखी जाती है।

सत्यानन्दी-दीपिका

यह प्रकरण और 'श्वेतकेतु' यह संनिहित पद है, वैसे आत्मशब्द प्रधानका वाचक है इसका निश्चायक न प्रकरण है और न संनिहित पद ही, अतः अचेतन प्रधान चेतन श्वेतकेतुका स्वरूप कदापि नहीं हो सकता, इसलिए आत्मशब्द चेतन ब्रह्म विषयक है। आत्मशब्द प्रधानमें गौण है अथवा अनेकार्थक होनेसे ज्योतिः शब्दकी तरह चेतन और अचेतन दोनोंमें मुख्य है ? इस शङ्काके समाधानमें इस सूत्रका आरम्भ ठीक नहीं है। क्योंकि 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस पूर्व सूत्रमें ही आत्मशब्दमें गौणत्व तथा अनेकार्थकत्व विषयक सभी शङ्काओंका निराकरण करना उचित था। इस अरुचिसे भगवान् भाष्यकारने 'अथवा' इत्यादिसे पक्षान्तरका उल्लेख किया है ॥ ७ ॥

* "नामधेयं विकारोऽयं वाचा केवलमुच्यते। वस्तुतः कारणाद्भिन्नो नास्ति तस्मान्मृषैव सः ॥"
(नाम मात्र विकार है, केवल वाणीसे कहा जाता है, वस्तुतः कारणसे भिन्न नहीं है, इससे वह

ब्रूयात्। नचैवमवोचत्। सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते। *च शब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः। सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत्। कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६।१।१,३) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात्। न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति; अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य। तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ८ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्?

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—श्रुति कहती है कि सुषुप्तिमें जीव सत् शब्द वाच्य ब्रह्ममें ही लीन होता है, अतः सत् शब्द वाच्य चेतन ब्रह्म है, अचेतन प्रधान नहीं।

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६।८।१)

च शब्द प्रतिज्ञामें विरोधका संग्रह दिखलानेके लिए है। यदि प्रधानका हेय भी कहा होता तो भी प्रतिज्ञाका विरोध प्रसक्त होता, क्योंकि कारणके विज्ञानसे ही सबका ज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। कारण कि 'उत तमादेशम०' (उद्दालक—हे श्वेतकेतु ! क्या तुमने आचार्यसे आदेश पूछा है? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेषरूपसे ज्ञात हो जाता है। [यह सुनकर श्वेतकेतुने बीचमें पूछा] 'कथं०' हे भगवन् ! वह आदेश कैसा होता है? उद्दालक—हे सोम्य ! जिस प्रकार घटादिके कारण भूत एक ही मृत्पिण्ड (मृत्तिकाके स्वरूप) के ज्ञानसे सारे मृन्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, विकार केवल वाणीके आश्रय भूत नाममात्र हैं सत्य तो केवल मृत्तिका ही है, 'एवं सोम्य०'—हे सोम्य ! इसका आदेश भी है) इस प्रकार वाक्यके उपक्रममें श्रुति है। सम्पूर्ण भोग्य पदार्थोंके कारण भूत सत् शब्द वाच्य प्रधानका हेयत्व अथवा अहेयत्वसे ज्ञान होनेपर भी भोक्तृवर्गका ज्ञान नहीं हा सकता, क्योंकि भोक्तृवर्ग प्रधानका विकार नहीं है, इसलिए प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ८ ॥

प्रधान सत् शब्द वाच्य क्यों नहीं है?

उसी सत् शब्द वाच्य कारणको प्रस्तुतकर श्रुति कहती है—'यत्रैतत्पुरुषः०' (जिस सुषुप्ति अवस्थामें यह पुरुष स्वपिति—सोता है, ऐसा कहा जाता है उस समय हे सोम्य ! वह सद्रूपके साथ

सत्यानन्दी-दीपिका

मिथ्या है) कारणसे कार्यकी भिन्न सत्ता न होनेसे कारणके ज्ञानसे कार्यमात्रका ज्ञान होता है, अतः सबका अधिष्ठानत्वेन कारण होनेसे ब्रह्म ही सत्य है। मृत्तिकामें घटादिके समान यह दृश्यमान आकाशादि सारा प्रपञ्च ब्रह्ममें कल्पित है। सर्वाधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञानसे कार्यमात्रका ज्ञान हो जाता है प्रधानके ज्ञानसे भोक्तृवर्गका ज्ञान न होनेसे प्रतिज्ञा बाधित होती है। ब्रह्मके ज्ञानसे भोक्तृवर्ग तथा भोग्यवर्ग सबका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण भोक्तृवर्ग, भोग्यवर्ग सद्रूप ब्रह्मसे अभिन्न है। इस प्रकार वेदान्तमें उक्त प्रतिज्ञा सर्वथा निर्दोष है, अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ८ ॥

इति । एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति । स्वशब्देनेहात्मोच्यते यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धम्; प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात् । *मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान्गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति । तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्यन्मनःशब्दवाच्यो भवति । स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते । *यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्– 'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमिति' (छा० ८।३।३) इति । यथा वाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः 'आप एव तदशितं नयन्ते, तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६।८।३,५) इति च, एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतीतीममर्थं

एक रूप हुआ रहता है अर्थात् वह अपने स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है । इसीसे उसे उस अवस्थामें 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, क्योंकि वह अपनेमें ही लीन होता है) यह श्रुति भी पुरुषके स्वपिति (सोता है) इस लोक प्रसिद्ध नामका निर्वचन करती है । श्रुतिमें स्वशब्दसे आत्मा कहा जाता है, जो प्रकृत और सत् शब्द वाच्य है । उसमें जीव अपीत होता है अर्थात् लीन होता है ऐसा अर्थ है । अपि पूर्वक 'इण्' गत्यर्थक धातुका लय अर्थ [व्याकरणमें] प्रसिद्ध है, क्योंकि प्रभव और अप्य दोनों शब्द उत्पत्ति और प्रलय अर्थमें प्रयुक्त हुए देखनेमें आते हैं । मनके प्रचार इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरणका परिणाम वृत्तिरूप उपाधिविशेषके सम्बन्धसे विषयोंको ग्रहण करता हुआ उनके साथ ऐक्यकी भ्रान्तिको प्राप्त हुआ [विश्वसंज्ञक] जीव जागता है । जाग्रत् अवस्थामें अनुभूत विषयोंकी वासनासे युक्त होकर स्वप्नोंको देखता हुआ मन शब्दसे वाच्य होता है । दोनों उपाधियोंके लय होनेपर सुषुप्ति अवस्थामें उपाधि जन्य विशेषके अभावसे वह स्व स्वरूपमें विलीन-सा होता है, अतः अपनेको ही प्राप्त हो जाता है, ऐसा कहा जाता है । 'स वा एष०' (वह यह आत्मा हृदयमें है 'हृदि अयम्-हृदयम्' यह हृदय है । यही इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है । इसीसे यह (आत्मा) हृदय कहलाता है) इसप्रकार हृदय शब्दका निर्वचन जैसे श्रुतिसे दिखलाया गया है । तथा 'आप एव,' 'तेज एव०' (उस समय जल ही उस पुरुषके द्वारा भुक्त अन्नको द्रवीभूतकर ले जाता है अर्थात् रसादि रूपमें परिणत कर देता है, उसके पीये हुए जलको तेज ही ले जाता है अर्थात् तेज जलका शोषणकर उसे रक्त और प्राणरूपमें परिणत कर देता है) इसप्रकार जैसे 'अशनाया और उदन्या' शब्दोंकी प्रवृत्तिका मूल श्रुति दिखलाती है । वैसे ही सत् शब्द वाच्य स्वरूपमें लीन होता है ।

सत्यानन्दी-दीपिका

* यद्यपि 'स्वं ह्यपितो भवति' (अपनेमें ही लीन होता है) इस छन्दोग्य श्रुतिमें जीवका विलय कथन अयुक्त है, क्योंकि विलय तो उत्पत्तिमद्वस्तुका होता है नित्यका नहीं । जीव तो नित्य है । तो भी श्रुतिमें साक्षात् नित्य जीवका विलय नहीं कहा गया है, किन्तु अनित्य उपाधियोंका कारणमें विलय होनेसे तदुपहित जीवका भी गौणरूपसे विलय कहा गया है । इसका स्पष्टीकरण करनेके लिए भगवान् भाष्यकार 'मनः प्रचार' इत्यादिसे जाग्रत् और स्वप्नावस्थाओंका वर्णन करते हैं । नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा घट आदि आकारमें परिणत अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम 'मनः प्रचार' है । उन वृत्तिरूप उपाधियोंद्वारा स्थूल घट आदि विशेष पदार्थोंका आत्माके साथ कल्पित सम्बन्ध होता है, इससे नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूप आदि अर्थोंका अनुभव करता हुआ स्थूल देह रूप उपाधिके साथ "मैं मनुष्य हूँ" इसप्रकार ऐक्यरूप भ्रान्तिको प्राप्त हुआ आत्मा 'विश्व' नामक होकर जागता

स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति। नच चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत। यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत। श्रुत्यन्तरं च–'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृह० ४।३।२१) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति। अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥ ९ ॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्?

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—सभी वेदान्तोंमें कारण ज्ञान समान है। अतः चेतन ही जगत्का कारण है, प्रधान नहीं।

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्कचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत। नत्वेतदस्ति; समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।' 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथाय-

---

इसी अर्थको श्रुति 'स्वपिति'शब्दके निर्वचनसे दिखलाती है। और इसप्रकार चेतन आत्मा अचेतन प्रधानको अभेदरूपसे प्राप्त नहीं होगा। यदि आत्मीय होनेके कारण प्रधानको ही स्वशब्दसे कहा जाय तो भी चेतन अचेतनमें लीन होता है, यह कथन विरुद्ध ही होगा। 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हुआ यह पुरुष न किसी बाह्य वस्तुको और न किसी आन्तर वस्तुको ही जानता है) यह दूसरी श्रुति भी सुषुप्ति अवस्थामें चेतनमें जीवका लय दिखलाती है। अतः जिसमें सभी चेतनोंका लय होता है वही चेतन सत् शब्द वाच्य और जगत्का कारण है प्रधान नहीं ॥ ९ ॥

और किस कारणसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है?

तार्किक सिद्धान्तके समान यदि वेदान्तोंमें भी भिन्न-भिन्न कारण ज्ञान होता, कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान और कहीं अन्य (परमाणु आदि) ही जगत्का कारण होता, तो कदाचित् प्रधान कारणवादके अनुरोधसे प्रधानके विषयमें 'ईक्षति' आदि श्रुतियोंकी कल्पना की जा सकती, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि सभी वेदान्तोंमें कारण ज्ञान समान ही है। 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः०' (जैसे प्रज्वलित अग्निसे निकली हुई चिनगारियाँ सभी दिशाओंमें फैलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे सभी प्राण

सत्यानन्दी-दीपिका

है। जाग्रत् अवस्थामें अनुभूत पदार्थोंके अनुरूप संस्कारों सहित मनसे युक्त होकर जीव अविद्याके परिणामात्मक स्वप्न पदार्थोंको देखता हुआ 'सोम्य तन्मनः०' (हे सोम्य! वह मन है) इसप्रकार श्रुति प्रतिपादित मन शब्दसे वाच्य होता है अर्थात् 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इसप्रकार मनरूप उपाधिके साथ ऐक्यरूप भ्रान्तिको प्राप्त हुआ आत्मा स्वप्नावस्थामें 'तैजस' नामवाला होता है। सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल और सूक्ष्म दोनों उपाधियोंका कारणमें विलय होनेसे 'मैं मनुष्य हूँ, कर्ता भोक्ता हूँ' इत्यादि विशेष अभिमानके अभाव होनेके कारण केवल अविद्योपाधिक होकर जीव अपनेमें लीनकी तरह कहा जाता है। 'स्वं ह्यपितो भवति' इसप्रकार लय गुणके योगसे प्राज्ञ आत्मा का नाम 'स्वपिति' है।

* जैसे ये उक्त सारी व्युत्पत्तियाँ यथार्थ हैं, वैसे ही 'स्वमात्मानमपीतो भवतीति स्वपिति' यह व्युत्पत्ति भी यथार्थ है। यहाँ श्रुति स्व शब्दसे अचेतन प्रधानका ग्रहण नहीं करती अपितु आत्माका ही ग्रहण करती है ॥ ९ ॥

तनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३।३) इति। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति। 'आत्मन एवेदं सर्वम्' (छा० ७।२६।१) इति। 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३।३) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः। आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम। महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वम्, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु। अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥ १० ॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ?

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

पदच्छेद—श्रुतत्वात्, च।

सूत्रार्थ—और 'स कारणम्' इसप्रकार श्रुतिमें स्वशब्दसे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण कहा गया है। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है।

* **स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य**–'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति। तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

(इन्द्रियाँ) यथा स्थान (गोलक) में प्रादुर्भूत होते हैं, प्राणोंसे तदुपकारक सूर्य आदि देवता प्रकट होते हैं, तदनन्तर देवोंसे लोक (इन्द्रियोंके रूप आदि विषय) उत्पन्न होते हैं और **'तस्माद्वा०'** (इस सद्रूप आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) **'आत्मन०'** (आत्मासे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ) 'आत्मन०' (आत्मासे प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार सभी वेदान्त 'आत्मा कारण है' यह दिखलाते हैं। आत्मशब्द चेतन वाचक है यह हम कह चुके हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियोंमें रूप आदि विषयक ज्ञान समान है, वैसे ही वेदान्त वाक्योंका चेतन कारणत्वमें जो समान ज्ञान है यही प्रामाण्य होनेमें महान् कारण है। इस कारण—वेदान्त वाक्योंसे चेतन कारणत्व अवगति समान होनेके कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है ॥ १० ॥

और किस कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है ?

सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है ऐसा स्वशब्द (ईश्वर वाचक शब्द) से ही श्रुति कहती है, क्योंकि श्वेताश्वेतरोंके मन्त्रोपनिषद्में सर्वज्ञ ईश्वरको प्रस्तुतकर **'स कारण०'** (वह सर्वज्ञ परमेश्वर सभीका कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीवका स्वामी है। उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न कोई स्वामी है) ऐसा कहा गया है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है अचेतन प्रधान अथवा अन्य कोई नहीं ॥ ११ ॥

सत्यानन्दी–दीपिका

* यद्यपि 'तदैक्षत' (उसने ईक्षण किया) इत्यादि श्रुतिसे कारणमें केवल ईक्षण मात्र प्रतिपादित है। सर्वज्ञत्व नहीं, तो भी ईक्षण कर्तामें अपना चेतन वाचक 'सर्ववित्' शब्द भी है। **स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।** (वह विश्वका कर्ता, आत्मयोनि (स्वयंभु) ज्ञाता, कालका प्रेरक, अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सभी विद्याओंका आश्रय और जो सर्ववित् है) **'यः सर्वज्ञःसर्ववित्'** 'अतः **समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः'** (मुण्ड० २।१।९) (उस परमेश्वरसे ही सभी समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसीसे गङ्गा, सिन्धु आदि विविध नदियाँ बहती हैं) इसप्रकार सभी उपनिषदोंमें यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ब्रह्म ही जगत्का कारण है, जड़ प्रधान अथवा परमाणु आदि नहीं। पूर्वपक्षमें जीवका प्रधानके साथ अभेद मानकर उपासना करना फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्म तथा प्रत्यगात्माका अभेदरूपसे साक्षात्कार फल है ॥ ११ ॥

(६ आनन्दमयाधिकरणम् । सू० १२-१९)

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्त-वाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम्। गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारण-वादिन इति व्याख्यातम्-अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति। * उच्यते,-द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह० ४।५।१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छान्दो० ७।२४।१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' (श्वे० ६।१९) 'नेति नेति' (बृ०

'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रसे लेकर 'श्रुतत्वाच्च' पर्यन्त सूत्रोंसे जो वेदान्त वाक्य उदाहृत किए गए हैं वे सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर जगत्के जन्म स्थिति और लयका कारण है इसी अर्थके प्रतिपादक हैं, यह बात युक्ति पूर्वक कही गई है। सभी वेदान्त वाक्योंमें कारण विषयक अवगति समान है, इस कथनसे सारे वेदान्त वाक्य चेतनवादी हैं, ऐसा व्याख्यान किया गया है, तो अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ क्यों किया जाता है? इसपर कहते हैं—नाम रूपात्मक विकार विशेष उपाधिसे युक्त और उससे विपरीत सभी उपाधियोंसे रहित, इसप्रकार ब्रह्मके दो रूप अवगत होते हैं। जैसे कि 'यत्र हि०' (जहाँ-अविद्यावस्थामें द्वैत-सा होता है वहीं अन्य-अन्यको देखता है किन्तु जहाँ-विद्यावस्थामें उस विद्वान्के लिए सब आतमा ही हो गया तो उस समय किस करणसे किस विषयको कौन देखे) और 'यत्र०' (सनत्कुमार—जहाँ व्यापक आनन्दस्वरूप आत्मामें स्थित हुआ विद्वान् अपनेसे भिन्न कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता वह भूमा-व्यापक ब्रह्म है और जहाँ अपनेसे भिन्न कुछ और देखता है कुछ और सुनता है, कुछ और जानता है वह अल्प-परिच्छिन्न है, जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य-मरणशील है) 'सर्वाणि०' (जो परमेश्वर सब देव, मनुष्यादि शरीरोंको उत्पन्नकर यह देव है, यह मनुष्य है, इत्यादि नाम रखकर उन नामोंसे स्वयं व्यवहार करता है) 'निष्कलं०' (कला रहित-अवयवरहित, निष्क्रिय, शान्त, रागादि दोष रहित, निर्लेप—पापादि रहित, अमृतत्वका उत्कृष्ट सेतु और जिसका ईन्धन जल चुका है उस धूम रहित

सत्यानन्दी-दीपिका

* वेदान्त शास्त्रमें सगुण तथा निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक अनेक वाक्य देखनेमें आते हैं, उनमें कौन-से सगुणकी उपासना द्वारा निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित होते हैं और कौन-से साक्षात् निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित होते हैं। इस प्रकारकी जिज्ञासा अग्रिम ग्रन्थके आरम्भमें हेतु है। भगवान् भाष्यकारने सगुण और निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक 'यत्र हि द्वैतमिव' 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। माया उपाधि विशिष्ट सगुण ब्रह्म और दूसरा माया उपाधिसे रहित निर्गुण ब्रह्म इस प्रकार ब्रह्मके दो रूप हैं। यद्यपि ब्रह्म एक ही है, फिर भी उपाधिके भाव और अभावके कारण ब्रह्मके दो रूप श्रुतियोंमें कहे गये हैं। इसलिए उपाधि सहित सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न परिच्छिन्न तथा मिथ्या है, क्योंकि उसकी उपाधि परिच्छिन्न तथा मिथ्या है, इससे उसे भी ऐसा ही कहा जाता है। इस प्रकार ब्रह्मके दो रूप माननेमें कोई विरोध नहीं है। 'निष्कलं' इस श्रुतिमें सेतु शब्द लौकिक सेतुके समान 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्तिमें स्वयं स्थित या प्रति-बिम्बित ब्रह्म संसार सागरसे पार ले जाने (मोक्ष प्राप्ति) में एक मात्र साधन है।

२।३।६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इति, 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वेदान्तवाक्यानि। * तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परआत्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः, 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३।१४।१) इति च। स्मृतेश्च—'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥' (गी० ८।६)

अग्निके समान (देदीप्यमान) देवको मैं शरण लेता हूँ)। 'नेति०' (यह नहीं, यह नहीं, ऐसा) 'अस्थूलम०' (जो न स्थूल है और न सूक्ष्म है) 'न्यून०' (एक न्यून-अल्प स्थान है और दूसरा सम्पूर्ण स्थान है अर्थात् सोपाधिक सगुण ब्रह्म अल्प और उपाधिरहित निर्गुण ब्रह्म पूर्ण-व्यापक है) ऐसे सहस्र वाक्य विद्या और अविद्याके विषय भेदसे ब्रह्मके दो रूप दिखलाते हैं। उसमें अविद्यावस्थामें उपास्य उपासक आदि लक्षण सभी व्यवहार ब्रह्ममें होते हैं। उपासनाओंमें ब्रह्मकी कई एक उपासनाएँ अभ्युदयके लिए हैं, कई एक (दहरादि) उपासनाएँ क्रममुक्तिके लिए हैं और कई एक कर्मसमृद्धिके लिए हैं। गुणविशेषसे तथा उपाधिभेदसे उनका परस्पर भेद है। यद्यपि उन-उन गुण विशेषोंसे विशिष्ट एक ही ईश्वर परमात्मा उपास्य है, तथापि जिस गुणकी उपासना होती है तदनुसार भिन्न-भिन्न फल होते हैं, क्योंकि 'तं तथा०' (उसकी जिस-जिस रूपसे उपासना करता है वैसे ही रूपको प्राप्त होता है) और 'यथा क्रतु०' (इसलोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसे ही यहाँसे मर कर जानेपर होता है) इस प्रकारकी श्रुति और 'यं यं०' (हे कुन्तीपुत्र ! मनुष्य जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उस भावकी भावनावाला वह पुरुष उस-उस भावको ही प्राप्त होता है) ऐसी स्मृति है। यद्यपि एक ही आत्मा जड़ और चेतन सभी

सत्यानन्दी-दीपिका

* अब भगवान् भाष्यकार 'तत्र' इत्यादिसे अविद्या विषयक विचार करते हैं—निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानके लिए कल्पित प्रपञ्चका आश्रयकर उसके बाध होनेसे पहले 'गुड़जिह्वान्याय'से तत् तत् फलके लिए उपासनाओंका विधान किया गया है। उनका भी चित्तकी एकाग्रता द्वारा ब्रह्मज्ञान ही मुख्य फल है, इसलिए इनका भी महातात्पर्य ब्रह्ममें ही है। उपासनाओंका अवान्तर फल इस प्रकार है— 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१।५) (जो कोई उपासक 'नाम' ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है उसको जहाँ तक नामका विषय है वहाँ तक यथेष्ट कामाचार रूप फल प्राप्त होता है) इस प्रकारकी प्रतीकोपासनाओंका फल अभ्युदय है। दहरादि उपासनाओंका फल क्रममुक्ति है अर्थात् दहर उपासनाके बलसे ब्रह्मलोकमें पहुँचकर वहाँ ब्रह्माद्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर मुक्त हो जाता है। इस उपासनाका विशेष विवरण (ब्र० सू० १।३।१४) में द्रष्टव्य है। 'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) (उद्गीथके अवयव भूत वर्णात्मक ॐ (ओंकार) की उपासना करे) इस प्रकार उद्गीथादि उपासनाओंका फल कर्म समृद्धि है। विधेय होनेसे इन उपासनाओंका विधान यद्यपि कर्मकाण्डमें ही उपयुक्त था, फिर भी उपासना (ध्यान) मानसिक है और ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन है, इसलिए उनका ज्ञानकाण्डमें विधान किया गया है। यद्यपि परमेश्वर एक है तथापि सत्यकामादि गुण अनेक हैं, ध्यान करने योग्य हृदय, आदित्य आदि उपाधियाँ-स्थान अनेक हैं। इस तरह उपाधियोंके भेदसे उपहित भी भिन्न-भिन्न होता है, अतः जिस-जिस गुण सहित परमेश्वरका जिस-जिस उपाधिरूप स्थानमें ध्यान किया जाता है, उस-उस गुण तथा उस-उस उपाधिके भेदसे उपास्यका भेद, उपास्यभेदसे उपासनाका भेद,

इति।* यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २।३।२।१) इत्यत्र। स्मृतावपि—'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥' (गी० १०।४१) इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते। एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति। एवं 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन संदिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति। यथेहैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते। यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तम्, तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

भूतोंमें गूढ (छिपा हुआ) है, तथापि चित्तरूपी उपाधिविशेषके तारतम्यसे उत्तरोत्तर अभिव्यक्त, कूटस्थ नित्य एकरूप आत्माका ऐश्वर्य शक्तिविशेषसे तारतम्य 'तस्य०' (उस उक्थरूप पुरुषके शरीरमें वर्तमान चिद्रूप आत्माको जो पुरुष अतिशय जानता है—उपासना करता है) इस श्रुतिमें सुना जाता है। और 'यद्यद्०' (इसलिए हे अर्जुन! जो-जो ऐश्वर्य शाली कान्तियुक्त एवं उत्कृष्ट वस्तु है उस-उसको तुम मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान) इस प्रकार स्मृतिमें भी है। जहाँ-जहाँ विभूति आदिका अतिशय है वह-वह ईश्वर है, इस प्रकार उसका उपास्यरूपसे विधान किया जाता है। इस प्रकार यहाँ (सूत्रमें) भी आदित्यमण्डलमें हिरण्यमय पुरुष है वह सब पापोंसे रहित होनेके कारण परमात्मा ही है, ऐसा (ब्र० सू० १।१।२०) सूत्रमें कहेंगे। इस प्रकार (ब्र० सू० १।१।२२) इत्यादि सूत्रोंमें भी समझना चाहिए। इस प्रकार विदेह मुक्तिका कारण आत्मज्ञान भी उपाधि विशेष द्वारा उपदिश्यमान होनेपर भी और उपाधि सम्बन्ध विशेष विवक्षित न होनेसे पर विषयक है अथवा अपर विषयक है ऐसा सन्देह होता है, अतः तात्पर्यका पर्यालोचनकर उसका निर्णय करना चाहिए। जैसे कि यहीं 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्रमें किया है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधि सम्बन्धकी अपेक्षा उपास्यरूपसे और उपाधि सम्बन्ध रहित ज्ञेयरूपसे वेदान्त वाक्योंमें उपदिष्ट है, यह दिखलानेके लिए अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। 'गतिसामान्यात्' वेदान्त वाक्योंसे ब्रह्म कारणविषयक ज्ञान समान होनेसे अचेतन कारणका जो निराकरण कहा गया है, उसका भी ब्रह्म विषयक अन्य वाक्योंका व्याख्यान करनेकी इच्छावाले सूत्रकार ब्रह्मसे भिन्न कारणके निषेधसे विस्तार करेंगे—

सत्यानन्दी-दीपिका

उपासना भेदसे फलका भेद होता है। इस विषयमें श्रुति और स्मृति भी उद्धृत किये गये हैं। लोग राजाकी उपासनाकी तरह परमात्माकी जिस-जिस रूपसे उपासना करते हैं उस-उस रूपको प्राप्त करना ही उनके लिए फल होता है।

* बुद्धि आदि उपाधिकी शुद्धिके तारतम्यसे ऐश्वर्य, ज्ञान आदिका तारतम्य विशेष होता है। इस भेदसे एक रूप आत्माका मनुष्य आदिसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्तरोत्तर ऐश्वर्यादिके उत्कर्षका आविर्भाव सुना जाता है। उपास्य उपासक भावमें भी अल्प उपाधिवाला आत्मा उपासक और उत्कृष्ट उपाधिवाला आत्मा उपास्य है। इस तरह उपाधिको लेकर यह सारा तारतम्य है। 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' यहाँ आदित्य आदि भी जीवरूपसे उपास्य नहीं हैं किन्तु ईश्वररूपसे उपास्य हैं, इसमें भगवान् भाष्यकार 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादिसे भगवान् सूत्रकारकी सम्मति देते हैं कि इस सूत्रमें आकाश शब्दसे भी परमेश्वरका ही ग्रहण किया गया है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—आनन्दमयः, अभ्यासात् ।

सूत्रार्थ—(आनन्दमयः) 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इस श्रुतिमें आनन्दमय परमात्मा ही है जीव नहीं, (अभ्यासात्) क्योंकि आनन्द शब्दका ब्रह्मके लिए अनेक वार अभ्यास देखा गया है।

* **तैत्तिरीयकेऽन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं चानुक्रम्याम्नायते**–'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) **इति। तत्र संशयः–किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम्** 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) **इति; किंवाऽन्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति। किं तावत्प्राप्तं? * ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्मानन्दमयः स्यात्। कस्मात्? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्। अथापि स्यात्सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति; न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च। मुख्यश्चेदात्मानन्दमयः स्यात्, न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात्। इह तु** 'तस्य प्रियमेव शिरः' **इत्यादि श्रूयते। शारीरत्वं च श्रूयते**–'तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य' **इति। तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः। नच सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः। तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्ते, * इदमुच्यते**–

तैत्तिरीयक उपनिषद्में क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमयका आत्मरूपसे उपक्रमकर **'तस्माद्वा०'** (उस विज्ञानमयसे भिन्न उसके अन्तर आत्मा आनन्दमय है) ऐसा श्रुति कहती है। इससे सन्देह होता है कि क्या यहाँ आनन्दमय शब्दसे परब्रह्म ही कहा जाता है, जो **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस प्रकार प्रकृत है अथवा अन्नमयादिके समान ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—आनन्दमय ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ अमुख्य आत्मा होना चाहिए, क्योंकि अन्नमयादि अमुख्य आत्माके प्रवाह (परम्परा) में पठित है। परन्तु सर्वान्तर होनेसे आनन्दमय मुख्य आत्मा ही होना चाहिए ? ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उसमें प्रिय आदि अवयवोंका योग तथा शारीरत्वका श्रवण है। आनन्दमय यदि मुख्य आत्मा होता तो उससे प्रियादिका सम्बन्ध न होता। परन्तु यहाँ तो **'तस्य०'** (उसका प्रिय ही शिर है) इत्यादि श्रुति है। और **'तस्यैष०'** (यह जो आनन्दमय है यही उस पूर्वका शारीर आत्मा है) यह शारीरत्वकी श्रुति है। उस पूर्व विज्ञानमयका यही शारीर आत्मा है जो यह आनन्दमय है, ऐसा अर्थ है। सशरीर होनेपर प्रिय और अप्रियके सम्बन्धका निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आनन्दमय संसारी जीवात्मा है। इस प्रकार प्राप्त होनेपर उसके निरा-

सत्यानन्दी-दीपिका

* **'तस्माद्वा'** यह तैत्तिरीयक वाक्य इस अधिकरणका विषय वाक्य है। इस उपनिषद्में प्रतिपादित विज्ञानमयसे भिन्न उसके आन्तर आनन्दमय आत्मा है अर्थात् अज्ञानी पुरुषोंकी अन्नमयादि कोशोंमें जो आत्मबुद्धि है उसे पूर्व-पूर्व कोशोंसे हटाती हुई अन्तमें विज्ञानमय कोशमें से आत्मबुद्धिका निराकरण करती हुई श्रुति आनन्दमयमें आत्मबुद्धि कराती है। यहाँ अन्नका विकार प्रसिद्ध यह स्थूल शरीर अन्नमय है। समष्टि प्राण, मन और बुद्धि हिरण्यगर्भ रूप हैं व्यष्टि प्राण, मन तथा बुद्धि क्रमसे प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कहे जाते हैं। जो बिम्ब चैतन्य आनन्दरूप ईश्वर है उसका प्रतिबिम्ब जीव आनन्दमय है। इस प्रकार क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पाँच कोश कहे जाते हैं। अब यहाँ **'किमिह'** से संशय उपस्थित करते हैं।

* यहाँ वृत्तिकारके मतानुसार आनन्दमय ही ब्रह्म है, पहले इसपर विचार किया जाता है–आनन्दशब्दसे **'मयट्'** प्रत्यय होकर आनन्दमय शब्द सिद्ध हुआ है। **'मयट्'** प्रत्ययका अर्थ विकार

'आनन्दमयोऽभ्यासात् ।' पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति । कुतः ? अभ्यासात् । परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते । आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' (तै० २।६) इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते–'रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २।७) 'सैषानन्दस्य मीमाँसा भवति', 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।८,९) इति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्ति० ३।६) इति च । श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते । * यत्तूक्तमन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति, नासौ दोषः; आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् ।

करणार्थ 'आनन्दमयो०' यह सूत्र कहा जाता है । परमात्मा ही आनन्दमय हो सकता है । क्योंकि उसमें उसका अभ्यास है । परमात्मामें ही आनन्द शब्दका वार-वार अभ्यास है । आनन्दमयको प्रस्तुत कर 'रसो वै०' (निश्चय वह आनन्द है) इस प्रकार उसीका रसत्व कहकर 'रसँ ह्येवायं०' (यह पुरुष रसको प्राप्त कर ही आनन्द युक्त होता है) 'को ह्येवान्यात्कः०' (यदि आकाश-हृदयाकाशमें स्थित यह आनन्दरूप आत्मा न होता तो कौन व्यक्ति अपान व्यापार (निःश्वास) करता और कौन प्राण व्यापार (उच्छ्वास) करता, अतः यह आत्मा ही सबको आनन्दित करता है) 'सैषा०' (यह आनन्दका विचार होता है) 'एतम०' (विद्वान् उस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है) 'आनन्दं ब्रह्मणो०' (ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भयभीत नहीं होता) 'आनन्दो०' (आनन्द ब्रह्म है, ऐसा भृगुने जाना) ऐसा श्रुति कहती है । 'विज्ञानम०' (विज्ञान आनन्द ब्रह्म है) इसप्रकार अन्य श्रुतिमें भी ब्रह्ममें ही आनन्द शब्द देखा गया है । इस तरह आनन्द शब्दका ब्रह्ममें बहुत वार अभ्यास होनेसे आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है । ऐसा ज्ञात होता है । जो यह कहा गया है कि अन्नमयादि अमुख्य आत्माके प्रवाहमें पठित होनेसे आनन्दमय भी अमुख्य आत्मा है । यह दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमय सबके आन्तर है । मुख्य आत्माका ही उपदेश

सत्यानन्दी-दीपिका

तथा प्राचुर्य (बहुत) है । गत 'ईक्षिति' अधिकरणमें गौण और मुख्य ईक्षण दोनोंके तुल्य न होनेसे संशय नहीं होता, क्योंकि गौण प्राय पाठ निश्चायक नहीं होता । परन्तु यहाँ 'आनन्दमय' में तो मयट् प्रत्यय विकार और प्राचुर्य दोनोंमें मुख्य होनेसे संशय होनेपर अन्नमयादि विकारोंके प्रवाहमें आनन्दमयका पाठ होनेसे यह निश्चय होता है कि आनन्दका विकार जीव आनन्दमय है । इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे 'किं तावत्' से पूर्वपक्ष करते हैं । अब पूर्वपक्षी पर कोई शङ्का करते हैं—सर्वान्तर होनेसे आनन्दमय मुख्य आत्मा ही है । पूर्वपक्षी 'न स्यात्' आदिसे कहता है ।

* यहां आनन्दमय शब्दसे परमात्माका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें अनेक वार आनन्द शब्दका प्रयोग किया गया हैं । यद्यपि आनन्दशब्द वार वार ब्रह्ममें प्रयुक्त है तो इससे आनन्दमय शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता है तो भी 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' जैसे यहां ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें पठित 'ज्योतिः' शब्दका अर्थ ज्योतिष्टोम है, वैसे ही आनन्दमयके प्रकरणमें पठित आनन्दपद भी आनन्दमयका वाचक है, इसलिए आनन्दशब्दका अभ्यास आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका साधक है ।

* 'आनन्दमयः मुख्यात्माभवितुमर्हति सर्वान्तरत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा अन्नमयादि' 'आनन्दमय मुख्य आत्मा हो सकता है, क्योंकि वह सर्वान्तर है, जो सर्वान्तर नहीं है वह आत्मा नहीं हो सकता जैसे अन्नमयादि ।' इस अनुमान से भी आनन्दमय मुख्य आत्मा सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत्, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम्। यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम्। यत्तु ब्रूषे, प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना मुख्यस्यात्मन इति, अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा, न स्वाभाविकीत्यदोषः। शारीरत्वमप्यानन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥१२॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—विकारशब्दात्, न, इति, चेत्, न, प्राचुर्यात्।

सूत्रार्थ—(विकारशब्दात्, मयट् प्रत्यय विकारार्थका वाचक है, अतः (न) ब्रह्म आनन्दमय शब्दका अर्थ नहीं है। (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं है, (प्राचुर्यात्) कारण कि प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्ययका विधान है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

* अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? विकारशब्दात्। प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति मयटो विकारार्थत्वात्। तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्, न; प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० ५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते।

करनेकी इच्छावाले शास्त्रने लोकबुद्धिका अनुसरण कर अत्यन्त मूढ पुरुषोंमें आत्मरूपसे प्रसिद्ध अनात्मा अन्नमय शरीरका अनुवादकर सांचेमें ढाले हुए द्रवीभूत ताम्बे आदिकी प्रतिमाके समान उसके अभ्यन्तर, उसके अभ्यन्तर इस प्रकार पूर्व-पूर्वके समान उत्तर, उत्तर अनात्माका आत्मरूपसे ग्रहण कराके अनन्तर ज्ञान सौकर्यकी अपेक्षा सबके आन्तर मुख्य आनन्दमय आत्माका उपदेश किया है, यह सर्वथा युक्त है। जैसे अरुन्धती दृष्टान्तमें बहुत अमुख्य ताराओं (नक्षत्रों) को अरुन्धती रूपसे दिखलाए जानेपर जो अन्तका तारा दिखलाया जाता है वह मुख्य अरुन्धती ही होता है, वैसे ही यहाँ आनन्दमय सबके आन्तर होनेके कारण मुख्य आत्मा ही है। किन्तु यह जो कहते हो कि मुख्य आत्माके प्रियादिमें शिरस्त्वादिकी कल्पना अयुक्त है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमयसे पूर्व एवं मनोमयके पश्चात् विज्ञानमय उपाधिसे वह कल्पना उत्पन्न हुई है स्वाभाविक नहीं है। आनन्दमयका शारीरत्व भी अन्नमयादि शरीर परम्परासे दिखलाया गया है। संसारीके समान साक्षात् शारीरत्व नहीं है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ विकार वाचक 'मयट्' प्रत्ययका प्रयोग किया गया है, इसलिए प्रकृति वचन आनन्दसे भिन्न यह शब्द विकार वाचक जाना गया है, कारण कि 'आनन्दमय' इसमें मयट् विकारार्थक है। अतः अन्नमयादि शब्दके समान आनन्दमय शब्द भी विकारार्थक ही है। ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचुर्यार्थमें भी 'मयट्' का प्रयोग होता है। 'तत्प्रकृत०' (प्राचुर्यसे प्रस्तुत जो प्रकृत तद्वाचक शब्दसे मयट् प्रत्यय

सत्यानन्दी-दीपिका

* **'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याऽऽच्छादनयोः'** (पा० ४।३।१४३) इस सूत्रसे प्रकृति मात्रमें विकार और अवयवके अर्थमें मयट् प्रत्ययका विकल्पसे विधान किया गया है। अतः इस सूत्रके

यथा 'अन्नमयो यज्ञ' इत्यन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमय उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् ॥ १३ ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पदच्छेद—तद्धेतुव्यपदेशात्, च।

सूत्रार्थ—'एष ह्येवानन्दयाति' इस श्रुतिमें सब जीवोंके आनन्दके प्रति ब्रह्म ही कारण कहा गया है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्। यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानन्दमयः पर एवात्मा ॥१४॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

पदच्छेद—मान्त्रवर्णिकम्, एव, च, गीयते।

सूत्रार्थ—(मान्त्रवर्णिकमेव च) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें निर्धारित ब्रह्मका ही (गीयते) 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस ब्राह्मणवाक्यमें कथन है, क्योंकि वही प्रकृत है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

*इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं

होता है) इस सूत्रसे प्राचुर्यार्थमें भी मयट् प्रत्यय होता है। जैसे अन्न प्रचुर याग अन्नमय यज्ञ कहलाता है, वैसे ही आनन्द प्रचुर होनेसे ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है। मनुष्यसे लेकर उत्तरोत्तर स्थानमें सौ-सौगुना आनन्द है यह कहकर ब्रह्मानन्द निरतिशय है ऐसा निश्चय होनेसे ब्रह्म आनन्दप्रचुर है। इस कारण प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्यय है ॥ १३ ॥

और इसकारण भी मयट् प्रचुर अर्थमें है, क्योंकि 'एष ह्येवानन्दयाति' (निश्चय यही आनन्द देता है) यह श्रुति ब्रह्मको आनन्दका हेतु कहती है। आनन्दयाति अर्थात् आनन्दयति-आनन्द देता है ऐसा अर्थ है। जो अन्योंको आनन्द देता है वह प्रचुर आनन्द है यह प्रसिद्ध है। जैसे लोकमें जो अन्य निर्धन पुरुषोंको धनी बना देता है वह प्रचुरधन युक्त है, ऐसा ज्ञात होता है। इसकारण प्राचुर्यार्थमें भी मयट्का प्रयोग सम्भव है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

और इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है, क्योंकि 'ब्रह्मविदा०' [ब्रह्मवित् परब्रह्मको

सत्यानन्दी-दीपिका

अभिप्रायसे पूर्वपक्षी 'आनन्दस्य विकारः' ऐसा विग्रहकर कहता है कि यह मयट् प्रत्यय विकारार्थक है। इसलिए आनन्दके विकार जीवात्माका यहाँ ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्प्रकृत' इस पाणिनीय सूत्रसे प्राचुर्य अर्थमें भी मयट्का विधान है। अतः आनन्द प्रचुर होनेसे ब्रह्म आनन्द प्रचुर कहा जाता है। परन्तु यहाँ दुःख लवको लेकर आनन्द प्राचुर्य नहीं कहा गया है; किन्तु सुख लवको लेकर, क्योंकि 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' (तैत्ति० २।८।१) 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः' (तैत्ति० २।८।४) (पूर्वोक्त आनन्दसे प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्माका एक आनन्द है) इसप्रकार तैत्तिरीय श्रुतिने मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यंत क्रमशः सौ सौगुना उत्तरोत्तर आनन्दको कहकर ब्रह्म निरतिशय आनन्द है ऐसा कहा है, इसलिए यहाँ प्रचुर अर्थमें ही मयट् प्रत्ययका प्रयोग है ॥ १३ ॥

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०२।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्मसत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितम्, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरं; यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा' इति प्रकान्तम्, तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति। मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्, अविरोधात्। अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माऽभिधीयते। एतन्निष्ठैव च 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३।६) तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १५॥ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—न, इतरः, अनुपपत्तेः ।

सूत्रार्थ—(इतरः) जीव (न) आनन्दमय नहीं है। (अनुपपत्तेः) क्योंकि 'सोऽकामयत' इसप्रकार सृष्टिसे पहले श्रूयमाण कामयितृत्व आदि धर्मोंकी उसमें उपपत्ति नहीं है। अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा, नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते- 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इद ँ् सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० २।६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

प्राप्त होता है ऐसा आरम्भकर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप विशेषणोंसे जो प्रकृत ब्रह्म निर्धारित है, जिससे आकाशादि क्रमसे स्थावर और जंगम भूत उत्पन्न हुए हैं तथा जो भूतोंको उत्पन्नकर उनमें प्रवेशकर बुद्धिरूप गुहामें अवस्थित और सबके अन्तर है और जिसके ज्ञानके लिए 'दूसरा अन्तर आत्मा है, दूसरा अन्तर आत्मा है' ऐसा वर्णन किया है। पूर्व मन्त्रमें वर्णित वह ब्रह्म ही यहाँ 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस श्रुतिमें कहा गया है। मन्त्र और ब्राह्मणका एकार्थत्व होना युक्त है, क्योंकि उनमें विरोध नहीं है। अन्यथा—दोनोंको एकार्थक न मानें तो प्रकृतहान और अप्रकृतप्रक्रियाकी कल्पना (प्रकृत अर्थको छोड़कर अप्रकृत अर्थकी कल्पना) प्रसक्त होगी। जैसे अन्नमयादिसे अन्य आत्माका अभिधान है, वैसे आनन्दमयसे अन्य आत्माका अभिधान नहीं किया गया है। 'सैषा०' (यह जो भृगुको वरुणद्वारा प्राप्त विद्या है वह भी आनन्दमयमें ही पर्यवसित है) अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

और इसकारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है इतर नहीं। इतर अर्थात् ईश्वरसे अन्य संसारी जीव, ऐसा अर्थ है। आनन्दमय शब्दसे जीवका अभिधान नहीं है, क्योंकि उसमें आनन्दमयत्वकी उपपत्ति नहीं है। आनन्दमयको प्रस्तुतकर 'सोऽकामयत०' (उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ उत्पन्न होऊँ उसने तप किया, उसने तप कर यह जो कुछ है वह सब उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है। इस श्रुतिमें प्रतिपादित शरीरादिकी उत्पत्तिके पहले कामना, सृज्यमान विकारोंका स्रष्टासे अभेद एवं सब विकारोंकी सृष्टि यह सब परमात्मासे अन्यमें उपपन्न नहीं होता ॥ १६ ॥

सत्यानन्दी-दीपिका

* प्रथम सूत्रोंसे लिङ्गरूप वेदान्त वाक्योंको लेकर आनन्दमय ब्रह्म कहा गया है। अब प्रकरणको लेकर कहा जाता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इत्यादि मन्त्रोंमें प्रतिपादित ब्रह्म ही 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस ब्राह्मण वाक्यमें कहा गया है। इसप्रकार मन्त्र और ब्राह्मण वाक्य एकार्थक हैं, क्योंकि दोनोंमें विरोध नहीं है। इसलिए आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—भेदव्यपदेशात्, च।

सूत्रार्थ—और 'रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह श्रुति जीव और आनन्दमयका भेदसे व्यपदेश करती है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

***इतश्च नानन्दमयः संसारी, यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्माऽन्वेष्टव्यः', 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिस्मृती? यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्; तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः। तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते। * प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिना। परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः। यथा मायाविनश्चर्म-**

इस कारण भी आनन्दमय संसारी नहीं है, क्योंकि आनन्दमयके प्रकरणमें 'रसो वै०' (निश्चय, वह रस है, इसको पाकर ही यह जीव आनन्दी होता है) यह श्रुति जीव और आनन्दमयका भेदसे व्यपदेश करती है। जब लब्धा ही लब्धव्य नहीं होता, तब 'आत्माऽन्वेष्टव्यः०' (आत्माकी खोज करनी चाहिए) 'आत्मलाभान्न०' (आत्मलाभसे बढ़कर कुछ नहीं है) यह श्रुति और स्मृति कैसे उपपन्न होंगी? जब कि लब्धा ही लब्धव्य नहीं होता, ऐसा कहा गया है। यद्यपि यह ठीक है, तथापि (अभेद होनेपर भी) जिस आत्माका आत्मभाव नष्ट नहीं हुआ है अर्थात् अखण्ड एकरस आत्माके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानके कारण देहादि अनात्मपदार्थोंमें भ्रमरूप आत्मत्व निश्चय लोक में देखा गया है। उस (मिथ्याज्ञान) से देहादिरूप आत्माका भी आत्मा अनन्विष्ट होता हुआ अन्वेष्टव्य, अलब्धा होता हुआ लब्धव्य, अश्रुत होता हुआ श्रोतव्य, अमत होता हुआ मन्तव्य, अविज्ञात होता हुआ विज्ञातव्य है इत्यादि भेद व्यपदेश युक्त ही है। परमार्थसे तो सर्वज्ञ परमेश्वर से अन्य द्रष्टा, श्रोताका 'नान्योऽतो०' (उस परमेश्वरसे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिषेध किया जाता है। परमेश्वर तो अविद्यासे कल्पित शारीर कर्ता, भोक्ता विज्ञानात्मासे अन्य है। जैसे ढाल और खड्ग

सत्यानन्दी-दीपिका

*'रसो वै सः' आदि श्रुतिमें प्रकृत आनन्दमयको 'सः' (वह) शब्दसे कहा गया है और इस रसरूप आनन्दमयको प्राप्त करने वाला जीव है। इसलिए लब्धा जीव लब्धव्य आनन्दमय परमात्मा कदापि नहीं हो सकता। यदि लब्धा और लब्धव्यमें भेद मानें तो 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इत्यादि श्रुति, स्मृतिका बाध होगा अर्थात् लब्धा और लब्धव्य दोनोंके अभेदमें ही ये संगत होती हैं अन्यथा नहीं। यह ठीक है, परन्तु आत्मा ही आत्मासे लभ्य है यह कथन तो अभेद में ठीक नहीं है, अतः मानना होगा कि यह सब कथन कल्पित भेदको लेकर है। अखण्ड एक रस चिद्रूप आत्माका 'मैं आत्मा हूँ' इसप्रकार यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण अनात्मदेहादिमें 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा अज्ञानसे भ्रमरूप आत्मत्व निश्चय होनेपर अपनेको परमात्मासे भिन्न समझता है। इसप्रकार अभिन्न सद्रूप आत्मामें जीव और ईश्वरके कल्पित भेदको लेकर लब्धा और लब्धव्यादि श्रुति, स्मृतिमें कहे गये हैं। अतः जीव और आनन्दमयका पारमार्थिक अभेद होनेपर भी कोई दोष नहीं है।

* शंका—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिके आधारपर यदि परमेश्वरसे जीव भिन्न नहीं है तो मिथ्या जीवके साथ अभेद होनेके कारण परमेश्वर भी मिथ्या हो जायगा? समाधान—जैसे

खड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः। यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः। ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः', 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

पदच्छेद—कामात्, च, न, अनुमानापेक्षा :

सूत्रार्थ—(कामात्) 'सोऽकामयत' इसप्रकार कामयितृत्वका श्रवण है, अतः (नानुमानापेक्षा) अनुमानगम्य प्रधानकी आनन्दमय शब्द से अपेक्षा नहीं हो सकती।

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत' बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वाऽपेक्षितव्यम्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

पदच्छेद—अस्मिन्, अस्य, च, तद्योगम्, शास्ति।

सूत्रार्थ—'यदा ह्येवैष' इत्यादि श्रुति (अस्मिन्) इस प्रकृत आनन्दमय आत्मामें (अस्य) प्रतिबुद्ध जीवकी (तद्योगम्) तद्भावापत्ति-मुक्तिका (शास्ति) उपदेश करती है, इसलिए जीव अथवा प्रधान आनन्दमय नहीं है, किन्तु परमात्मा ही है।

इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्याऽस्य जीवस्य तद्योगं शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः, मुक्तिरित्यर्थः। तद्योगं शास्ति शास्त्रम् 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां

धारणकर सूत्रद्वारा आकाशमें आरुढ मायावी नटसे भूमिस्थ परमार्थरूप वही मायावी भिन्न है। अथवा जैसे घटरूप उपाधिसे परिच्छिन्न आकाशसे उपाधि रहित महाकाश भिन्न है, वैसे ही विज्ञानात्मा और परमात्माके कल्पित भेदका आश्रयणकर 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' ये सूत्र कहे गये हैं ॥१७॥

और आनन्दमयके प्रकरणमें 'सोऽकामयत०' (उसने कामना की बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ) इसप्रकार कामयितृत्वका निर्देश होनेसे अनुमानगम्य सांख्य परिकल्पित अचेतन प्रधान भी आनन्दमयरूपसे अथवा कारणरूपसे अपेक्षितव्य-ग्राह्य नहीं है। 'ईक्षतं०' इस सूत्रसे यद्यपि प्रधानका निराकरण किया गया है, तो भी सब वेदान्तवाक्योंसे अवगति (कारणज्ञान) समान है ऐसा विस्तारसे दिखलानेके लिए पूर्वसूत्र (ईक्षतेर्नाशब्दम्) में उदाहृत कामयितृत्व श्रुतिको लेकर प्रसंगसे पुनः निराकरण किया जाता है ॥ १८ ॥

इस कारण भी प्रधानमें अथवा जीवमें आनन्दमय प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र इस प्रतिबुद्ध जीवका इस प्रकृत आनन्दमय आत्मामें तद्योग-अभेद बतलाता है। तद्रूपसे योग तद्योग-तद्भावापत्ति अर्थात् मुक्ति ऐसा अर्थ है। 'यदा ह्येवैष०' (जब यह साधक इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्ममें अभयस्थिति प्राप्त करता है तब वह अभयको प्राप्त हो जाता है, जब

सत्यानन्दी-दीपिका

शुक्तिमें आरोपित रजत शुक्तिसे भिन्न नहीं है तथा आरोपित रजतसे अभिन्न होनेपर भी शुक्ति मिथ्या नहीं है, क्योंकि शुक्ति आरोपित रजतका अधिष्ठान होनेसे उससे भिन्न है, वैसे ही अविद्यामें प्रतिबिम्बरूपसे कल्पित जीवसे परमेश्वर भिन्न है, इससे वह मिथ्या नहीं है। यद्यपि कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती, फिर भी अधिष्ठानका उससे भेद है ॥ १७ ॥

विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७) इति । एतदुक्तं भवति–यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तते। यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति तदा संसारभयान्निवर्तत इति । तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम् । इदं त्विह वक्तव्यम्–'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' । 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २।१,२,३,४) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति ? मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्–न; अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात्; आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनानदमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति । *अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते, तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा ।

यह उस ब्रह्ममें थोड़ी सी भी भेददृष्टि करता है तब इसे भय प्राप्त होता है) यह शास्त्र तद्योग (अभेद) का उपदेश करता है । इसका तात्पर्य यह है कि जब इस आनन्दमय परमात्मामें किञ्चित् भी भेद अतादात्म्यरूप देखता है तब संसारभयसे निवृत्त (मुक्त) नहीं होता, जब इस आनन्दमयमें निरन्तर तादात्म्यरूपसे प्रतिष्ठित होता है तब संसारभयसे निवृत्त हो जाता है । श्रुतिका यह तात्पर्य आनन्दमयशब्दसे परमात्माका ग्रहण करनेपर ही घटता है । प्रधानका परिग्रह अथवा जीवका परिग्रह करनेमें नहीं घटता । इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय परमात्मा है । परन्तु यहाँ यह कहना चाहिए कि 'स वा एष०' (वह पुरुष अन्न रसमय है) 'तस्माद्वा०' (उस अन्न रसमय स्थूल शरीरसे अन्य आन्तर आत्मा प्राणमय है) 'तस्मादन्यो०' (उससे अन्य आन्तर आत्मा मनोमय है) 'तस्मादन्यो०' (उससे अन्य आन्तर आत्मा विज्ञानमय है) इस प्रकार विकारार्थक मयट् प्रवाहमें विना किसी कारण अर्धजरतीय न्यायसे † आनन्दमयमें मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थक है और आनन्दमय ब्रह्म विषयक है यह कैसे आश्रय लेते हो ? यदि कहो कि मन्त्रमें वर्णित ब्रह्मके प्रकरण होनेसे ऐसा लिया गया है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर तो अन्नमयादिमें भी ब्रह्मत्व प्रसङ्ग होगा । वृत्तिकार इसपर कहते हैं—अन्नमयादि ब्रह्म नहीं है यह युक्त है, क्योंकि उससे आन्तर अन्य, उससे आन्तर अन्य, इस प्रकार आत्मा कहा गया है, किन्तु आनन्दमयके आन्तर अन्य कोई आत्मा नहीं कहा गया है, इससे आनन्दमय ब्रह्म है, अन्यथा प्रकृतकी हानि और अप्रकृत-प्रक्रियाकी प्रसक्ति होगी । सिद्धान्ती–इसपर कहते हैं—यद्यपि अन्नमयादिके समान आनन्दमयसे अन्य आन्तर आत्मा, ऐसा श्रुति नहीं कहती, तो भी आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, क्योंकि आनन्दमयको प्रस्तुतकर 'तस्य प्रियमेव शिरः०' (प्रिय ही उसका शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है ब्रह्म पुच्छ

सत्यानन्दी–दीपिका

* अब भगवान् भाष्यकार 'इदं त्विह वक्तव्यम्' आदि भाष्यसे वृत्तिकारके मतका खण्डन करते हैं ।

---

† टि०—जैसे एक ही स्त्रीका कुछ भाग युवती और कुछ भाग वृद्धा होना अयुक्त है, वैसे ही प्रकारणमें भी एक ही मयट् प्रत्ययका कहीं विकार और कहीं प्रचुर अर्थ मानना अयुक्त है ।

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते। तत्र कुतः प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः? * नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि। तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम्? प्रकृतत्वादिति ब्रूमः। नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति। अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्माऽवयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात्। अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं, ब्रह्मशब्दसंयोगात्; नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति। अपि च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।

प्रतिष्ठा है) ऐसा श्रुति कहती है। जो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' उस मन्त्रमें प्रकृत है, वही यहाँ 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहा जाता है। उसे जाननेकी इच्छासे ही अन्नमयादि आनन्दमय पर्यन्त पाँच कोशोंकी कल्पना की गई है, तो ऐसी स्थितिमें प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रियाका प्रसङ्ग कैसे होगा? परन्तु जैसे अन्नमयादिके अवयवरूपसे 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' (यह पुच्छ प्रतिष्ठा है) कहा गया है, वैसे ही आनन्दमयके अवयवरूपसे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है) कहा जाता है, तो उसमें ब्रह्म स्वप्रधान है यह कैसे जाना जा सकता है? ब्रह्म प्रकृत है, अतः हम ऐसा कहते हैं। परन्तु आनन्दमयके अवयवरूपसे ब्रह्मके जान लेनेपर भी उसका प्रकृतत्व नष्ट नहीं होता, क्योंकि आनन्द-मय ब्रह्म ही है। सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—यदि ऐसा माना जाय तो वही ब्रह्म आनन्दमय आत्मा अवयवी और वही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठारूप अवयव होगा, इससे यह कथन अयुक्त होगा। दोनोंमें एकका ग्रहण करें तो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इसमें ही ब्रह्मनिर्देश आश्रयण करना युक्त है, क्योंकि इस वाक्यमें ब्रह्मशब्दका सम्बन्ध है। आनन्दमय वाक्यमें ब्रह्म निर्देश ग्रहण करना युक्त नहीं है, कारण कि उसमें ब्रह्म शब्दका सम्बन्ध नहीं है। किञ्च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहकर 'तदप्येष०' (उसमें और यह श्लोक है, ब्रह्म असत् है ऐसा जो जानता है स्वयं भी वह असत् ही हो जाता है, यदि ऐसा जानता है कि ब्रह्म है तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसे सत् समझते हैं) यह कहा जाता है। इस मन्त्रमें आनन्दमयकी अनुवृत्ति किये विना ब्रह्मके ही भाव और अभावके ज्ञानसे गुण और दोषका अभिधान है, अतः 'ब्रह्म

सत्यानन्दी-दीपिका

* वृत्तिकार मतमें 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रका यथाश्रुत अर्थ किया गया है, इसलिए आनन्दमयमें मयट् प्रत्ययको प्राचुर्यार्थक मानकर आनन्दमयको ब्रह्म सिद्ध किया गया है। यद्यपि आनन्दमयका अभ्यास किसी श्रुतिमें नहीं है, किन्तु 'आनन्दं ब्रह्मणो' (तै० २।९) 'आनन्द ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।६) आदि श्रुतियोंमें आनन्दका ही अभ्यास है, तो भी सूत्रके अनुसार आनन्दको आनन्दमय परक मानकर आनन्दमय ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। भगवान् भाष्यकारने इस सूत्रका यथाश्रुत अर्थ न कर लाक्षणिक किया है, अतः आनन्दमयको ब्रह्म न मानकर आनन्दमयकी 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' में लक्षणा की है कि आनन्दमयके पुच्छ प्रतिष्ठारूपसे जो प्रकृत है वही ब्रह्म है, किन्तु आनन्दमय ब्रह्म नहीं है। इस आशयका स्पष्टीकरण करनेके लिए भगवान् भाष्यकार 'अत्रोच्यते' इत्यादिसे इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं।

* वृत्तिकारके मतमें इस अधिकरणका विषय वाक्य 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' है, पहले उसके अनुसार इस अधिकरणकी व्याख्या की गई है। भगवान् भाष्यकारके मतमें इस अधिकरणका विषयवाक्य 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' है। इसपर पूर्वपक्षी 'ननु' आदिसे शंका करते हैं।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति' (तै० २।६) अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता; प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् । कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म, आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ? नैष दोषः; पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम्; 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४।३।३२) इति श्रुत्यन्तरात् । अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्, निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते; वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्–'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।९) । ❀ अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्तेऽपि दुःखास्तित्वमपि गम्यते; प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात् । तथा च सति 'यत्र नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (७।२४।१) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत । प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम्, ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व-

---

पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ब्रह्मका ही स्वप्रधानत्व ज्ञात होता है । आनन्दमय आत्माके भाव और अभाव विषयक शंका युक्त नहीं है, क्योंकि प्रिय मोद आदि विशेष युक्त आनन्दमय सर्वलोक प्रसिद्ध है । तो फिर स्वप्रधान होते हुए ब्रह्मका 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस प्रकार आनन्दमयके पुच्छरूपसे निर्देश कैसे किया गया है ? यह दोष नहीं है । पुच्छ-पुच्छसदृश, प्रतिष्ठा–वासस्थान अर्थात् लौकिक आनन्द समूहका ब्रह्मानन्द परस्थान–एक अधिष्ठान है इससे यह अर्थ विवक्षित है, किन्तु अवयवरूप अर्थ नहीं; क्योंकि 'एतस्यैव०' (इसी आनन्दके अंशको लेकर अन्य प्राणी जीवित रहते हैं अर्थात् अविद्याद्वारा प्रस्तुत इंद्रिय और विषयके सम्बन्धसे उत्पन्न आनन्दकी मात्राको लेकर अन्य प्राणी आनन्दित होते हैं) यह दूसरी श्रुति है । और यदि आनन्दमयको ब्रह्म मानें तो उसके प्रियादि अवयवोंके होने से सगुण ब्रह्मको स्वीकार करना होगा, परन्तु वाक्यशेषमें निर्गुण ब्रह्म सुना जाता है, क्योंकि 'यतो वाचो०' (जहाँसे मनके साथ वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है, ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भयभीत नहीं होता) इस प्रकार वाणी और मनका अविषय कहा गया है । और 'आनन्द प्रचुर' ऐसा कहनेपर दुःखका अस्तित्व भी ज्ञात होता है, क्योंकि लोकमें प्राचुर्यको अपने प्रतियोगी अल्पत्वकी अपेक्षा रहती है, ऐसा होनेपर 'यत्र नान्यत्प०' (सनत्कुमार—हे नारद ! जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता वह भूमा-ब्रह्म है) इस प्रकार भूमा ब्रह्ममें उससे अन्य वस्तुके अभावकी प्रतिपादक श्रुति बाधित होगी । प्रत्येक शरीरमें प्रियादिके भेदसे आनन्दमय भी भिन्न है, परन्तु ब्रह्म प्रतिशरीर में भिन्न नहीं है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह आनन्त्य श्रुति है, और 'एको देवः०' (सभी प्राणियोंमें गूढ सर्वव्यापक और सभी भूतोंका अन्तरात्मा एक देव है) यह

सत्यानन्दी-दीपिका

'विप्रमयो ग्रामः' (यह ग्राम विप्रप्रचुर है) जैसे यहाँ ब्राह्मणोंका बाहुल्य अन्यकी अल्पता प्रयुक्त है, वैसे आनन्द प्रचुर ब्रह्म है, इस कथनसे ब्रह्ममें आनन्द बहुत और दुःख अल्प सिद्ध होगा । इस तरह यदि ब्रह्ममें अल्प दुःख मानें तो 'यत्र नान्यत्पश्यति' यह श्रुति बाधित होगी, क्योंकि यह श्रुति आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें दुःखादि द्वैतका निषेध करती है, अतः आनन्दमयका अर्थ आनन्द प्रचुर नहीं, किन्तु अन्नमयादिके समान यहाँ भी मयट्का अर्थ विकार है । अतः आनन्दमय ब्रह्म नहीं है अपितु जीव है । इसलिए प्रियादि वृत्तिभेदसे प्रतिशरीरमें आनन्दमय भिन्न-भिन्न है ।

भूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति च श्रुत्यन्तरात्। नचानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते, प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमाँसा भवति।' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।७,८,९) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६।६) इति च। यदि च आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत। न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात्। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम्। यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै० २।८) इति, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पतितत्वात्। ❀ नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः फलं निर्दिष्टं भवेत्। नैष दोषः; आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपंच्यमानत्वात्। या त्वानन्दमयसंनिधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' इयं श्रुतिरुदाहृता, सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'

दूसरी श्रुति भी है। और आनन्दमयके अभ्यासकी श्रुति नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रातिपदिकार्थ मात्रका अभ्यास है, जैसे कि 'रसो वै सः०' (निश्चय वह रस-सार है रसको पाकर ही यह आनन्दी होता है, यदि हृदयाकाशमें स्थित आनन्द रूप आत्मा न होता तो कौन व्यक्ति अपान क्रिया करता और कौन प्राणन क्रिया करता यही तो उन्हें आनन्द देता है, अब इस ब्रह्मके आनन्दकी मीमांसा है, ब्रह्मके आनन्दका अनुभव करनेवाला विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता) 'आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाने' इत्यादि श्रुतियोंमें स्पष्ट है। यदि आनन्दमय शब्द ब्रह्म विषयक निश्चित हो तो आगे आनन्दमात्र प्रयोगवाले वाक्योंमें भी लक्षणासे आनन्दमयके अभ्यासकी कल्पना होती। परन्तु प्रिय शिरस्त्वादि हेतुओंसे आनन्दमय ब्रह्म नहीं है ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए 'विज्ञानं०' (ब्रह्म विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है।) इस दूसरी श्रुतिमें प्रातिपदिक आनन्दशब्दका ब्रह्ममें प्रयोग देखा जाता है, इससे 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्म विषयक आनन्दशब्दका प्रयोग है किन्तु आनन्दमयका अभ्यास नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। 'एतमानन्दमय०' (इस आनन्दमय आत्माका बाध करता है) इसमें यह जो मयट् प्रत्ययान्त आनन्द शब्दका अभ्यास है वह ब्रह्म विषयक नहीं है, क्योंकि बाध के योग्य विकारात्मक अन्नमयादि अनात्मवस्तुओंकी परम्परामें पठित है। परन्तु अन्नमयादिके समान यदि प्राप्तव्य आनन्दमयको ब्रह्म न मानें तो ब्रह्मवित् विद्वान्को ब्रह्मप्राप्ति रूप निर्दिष्ट फल न होगा? सि०—यह दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमयके बाधके निर्देशसे ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा भूत ब्रह्मकी प्राप्ति रूप फलका निर्देश है। 'तदप्येष०' (उसमें यह भी मन्त्र है) 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिसे उनका विस्तार किया गया है। आनन्दमयके संनिधानमें 'सोऽकामत' यह जो श्रुति उदाहृत है, वह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस अत्यन्त संनिहित ब्रह्मके साथ सम्बद्ध होती हुई आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका बोध नहीं कराती,

सत्यानन्दी-दीपिका

❀ 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' यहाँ संक्रमणका अर्थ बाध है प्राप्ति नहीं, क्योंकि 'एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति' इस तरह अन्नमयादिमें भी संक्रमणका अर्थ बाध किया गया है। इससे 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति वाक्य आनन्दमयको विषय नहीं करते, किन्तु 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिमें प्रतिपादित ब्रह्मको विषय करते हैं, क्योंकि वह संनिहित है, अतः आनन्दमय ब्रह्म नहीं है।

इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संबध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता। ❀ ननु; 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः; 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। 'या तु भार्गवी वारुणी विद्या' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति, तस्यां मयडश्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयड्विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः। सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते; अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात्। ❀ 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनावयव-

---

और 'रसो वै सः' इत्यादि उत्तरग्रन्थको उसकी अपेक्षा है, इससे यह आनन्दमय विषयक नहीं है। परन्तु—'सोऽकामयत' (उसने कामनाकी) इस प्रकार ब्रह्ममें पुंलिङ्ग (सः) शब्दका निर्देश युक्त नहीं है? सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुतिमें पुंलिङ्ग आत्मशब्दसे भी ब्रह्म प्रकृत है। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' यह जो भार्गवी वारुणी विद्या है उसमें मयट् प्रत्ययका श्रवण नहीं है और प्रियशिरस्त्वादि अवयवोंका भी श्रवण नहीं है, इसलिए आनन्द ब्रह्म है यह कथन युक्त है, अतः अणुमात्र भी विशेषका आश्रय किये विना अपने आप ही प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्ममें युक्त नहीं है। यहाँ सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन इष्ट नहीं है, क्योंकि इसी प्रकरणमें ब्रह्म वाणी और मनका अविषय है ऐसी श्रुति है, इसलिए अन्नमयादिके समान आनन्दमयमें भी मयट् प्रत्यय विकारार्थक ही समझना चाहिए प्राचुर्यार्थक नहीं। सूत्रोंका व्याख्यान तो इस प्रकार करना चाहिए कि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इसमें क्या आनन्दमयके अवयवरूपसे ब्रह्म विवक्षित है अथवा स्वप्रधानरूपसे? पुच्छशब्दके प्रयोगके कारण ब्रह्म अवयव रूपसे विवक्षित है, ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मा है, इसमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस तरह स्वप्रधानरूपसे ही ब्रह्म उपदिष्ट है, क्योंकि उसका अभ्यास है। कारण कि 'असन्नेव स भवति' (वह असत् ही होता है) इस उपसंहार श्लोकमें केवल ब्रह्म ही अभ्यस्यमान है। 'विकारशब्दान्नेति०' (सू० १३) इसमें विकारशब्दसे अवयव शब्द अभिप्रेत है। 'पुच्छं' इस अवयवशब्दसे ब्रह्म स्वप्रधान नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है,

सत्यानन्दी–दीपिका

❀ यद्यपि 'सोऽकायमत' इस श्रुतिमें ब्रह्मवाची 'सः' शब्द पुंलिङ्ग है, जब कि ब्रह्म वाचक 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसक है, अतः उसमें पुलिङ्ग 'सः' शब्दका प्रयोग युक्त नहीं है, तथापि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इत्यादि श्रुतिमें प्रकृत ब्रह्मका ही पुंलिङ्ग आत्मशब्दसे निर्देश किया गया है, वैसे ही 'सोऽकायमत' में भी समझना चाहिए। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' यहाँ भी पुलिङ्ग आनन्दशब्दसे ब्रह्मका निर्देश है, अतः आनन्द ब्रह्म है, 'वेदसूत्रयोर्विरोधे गुणेत्वन्यायकल्पनेति' (वेद और सूत्रमें विरोध हो तो गुणे—जहाँ प्रधान और अप्रधान दो विषयोंमें विरोध हो, यदि अप्रधान विषयके अनुसार प्रधान विषयका समन्वय करें तो वहाँ इस न्यायकी प्रवृत्ति होती है) इस न्यायसे सूत्रोंका अर्थ वेदार्थानुसार करना चाहिए न कि सूत्रार्थके अनुसार वेदार्थकी कल्पना करनी चाहिए, इस आशय को लेकर भगवान् भाष्यकार अब वेदार्थ अनुसार 'सूत्राणि' इससे सूत्रोंकी व्याख्या करते हैं।

शब्दोऽभिप्रेतः। पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्म इति यदुक्तम्, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वाऽवयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयवविवक्षया। यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम्। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च'। सर्वस्य हि विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते—'इदँ सर्वमसृजत। यदिदं किंच' (तै०२।६) इति। **नच कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उपपद्यते अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥१९॥**

क्योंकि प्राचुर्यसे भी [ब्रह्ममें] अवयव शब्दकी उपपत्ति हो सकती है। प्राचुर्य—प्राय: आपत्ति—अवयव क्रमकी बुद्धिमें प्राप्ति, अवयव प्रायमें वचन अधिकतासे अवयवोंके प्रतिपादक प्रकरणमें कहा हुआ वचन, ऐसा अर्थ है, क्योंकि अन्नमयादिके शिर आदिसे लेकर पुच्छ पर्यन्त अवयव कथनके अनन्तर आनन्दमयके भी शिरादि अन्य अवयव कहकर अवयव क्रमकी प्राप्ति होनेसे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहा है। अवयवकी विवक्षासे नहीं, इस कारण 'अभ्यासात्' अभ्याससे ब्रह्ममें स्वप्रधानत्वका समर्थन किया है। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' आनन्दमय सहित सब कार्य समुदायके कारणरूपसे 'इदं सर्वम०' (उसने यह सब उत्पन्न किया जो यह कुछ है) इस प्रकार ब्रह्मका कथन किया है। कारण होकर ब्रह्म मुख्य-वृत्तिसे अपने कार्य आनन्दमयका अवयव हो यह युक्त नहीं है। † दूसरे सूत्र भी यथासम्भव पुच्छ वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मके ही उपपादक समझने चाहिएँ ॥१९॥

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकृत ब्रह्मके ज्ञानके लिए यहाँ अन्नमयादि पाँच कोशोंकी पक्षी-रूपसे कल्पना की गई है। परन्तु उनके पक्षीरूपमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। 'तस्य प्रियमेव शिरः'० (तै० २।५) (प्रिय ही उसका शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है) इस प्रकार जब आनन्दमयके अन्य अवयव कहे गए हैं तो अवशिष्ट पुच्छ स्थानीय अवयवकी जिज्ञासाको पूर्ण करते हुए प्रकृत ब्रह्मको ही पुच्छरूपसे कहा गया है, क्योंकि जैसे पक्षीका आधार पुच्छ है, वैसे ही आनन्दमयका अधिष्ठान ब्रह्म है इसलिए ब्रह्मका प्रधानरूपसे प्रतिपादन है। किञ्च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि श्रुतियोंमें भी केवल आनन्दका ही अभ्यास उपलब्ध होता है आनन्दमयका नहीं। इसलिए 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियाँ और 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्यादि सूत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुति वाक्यसे निर्दिष्ट ब्रह्मके ही उपपादक हैं। अतएव 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रस्थ आनन्दमय शब्दसे लक्षणा द्वारा निर्गुण ब्रह्मका ही बोध कराया गया है। पूर्वपक्षमें सगुण ब्रह्मकी उपासना है और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान है ॥ १९ ॥

† टि० अन्य सूत्र भी यथा सम्भव 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुति वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मके उपपादक हैं। यथा 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' (ब्र० सू० १।१।१४) 'इदँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तै० २।६) इस श्रुति वाक्यसे जब यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म कार्यमात्रका हेतु है तब वह प्रिय शिरस्त्वादि विशिष्ट आनन्दमय कार्यका मुख्यवृत्तिसे अवयव कदापि नहीं हो सकता। 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' (ब्र० सू० १।१।१५), ब्रह्मविदाप्नोति परम्' जिस ब्रह्मके ज्ञानसे कैवल्य मुक्ति कही गई है और जो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें निर्दिष्ट है, वही 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुति वाक्यमें प्रतिपादित है, क्योंकि ब्रह्मपद संनिहित है। 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (ब्र० सू० १।१।१६)

(७ अन्तरधिकरणम् । २०–२१)

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

पदच्छेद—अन्तः, तद्धर्मोपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(अन्तः) 'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इस श्रुतिमें आदित्यमण्डलादिके अन्तर श्रूयमाण पुरुष संसारी नहीं है किन्तु परमेश्वर है, (तद्धर्मोपदेशात्) क्योंकि पापशून्यत्वादि उसके धर्मोंका उपदेश है ।

* **इदमाम्नायते**—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' 'इत्यधिदैवतम्' (छा० १।६।६, ७, ८) ।

श्रुति यह कहती है—'अथ य एषो०' (आदित्यमण्डलके अन्तर्गत सुवर्ण-सा ज्योतिर्मय-सा जो यह पुरुष दिखाई देता है जो सुवर्णके समान डाढी, मूछोंवाला और सुवर्णके सदृश केशोंवाला तथा जो नख पर्यन्त साराका सारा सुवर्ण-सा ही है) 'तस्य यथा०' (वानरके बैठनेके स्थानके सदृश विकसित अरुण वर्णवाले पुण्डरीक-कमलके समान उस पुरुषके दोनों नेत्र हैं, उसका 'उत्' ऐसा नाम है, क्योंकि वह सब पापोंसे ऊपर गया हुआ है अर्थात् सब पापोंसे मुक्त है जो ऐसे गुणोंसे सम्पन्न 'उत्' नामक देवकी यथोक्त प्रकारसे उपासना करता है वह निश्चय ही सब पापोंसे मुक्त हो

सत्यानन्दी-दीपिका

* पहले अधिकरणमें 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।६) 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें आनन्दमय, आनन्द और ब्रह्म शब्दोंसे जो निर्गुण ब्रह्म निर्दिष्ट है, वही उपाधि विशिष्ट होकर उपास्य है । अब इस अधिकरणमें अधिकारीके भेदसे उपासना तथा उसके अनुरूप देवताका निरूपण किया जाता है । यद्यपि ब्रह्म व्यापक है, तो भी उपासनाके लिए स्थान विशेषकी अपेक्षा होती है, इसलिए उपासना द्वारा फल

इतर-आनन्दमय जीव यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि उसमें सर्वस्रष्टिकर्तृत्व अनुपपन्न है । 'भेद-व्यपदेशाच्च' (ब्र० सू० १।१।१७) 'रसो वै सः रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इसप्रकार ब्रह्म और आनन्दमयमें भेद है । 'आनन्दमयो ब्रह्म तैत्तिरीयकपञ्चमस्थानस्थत्वात् भृगुवल्लीस्थानन्दवत्' (आनन्दमय ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मवल्लीके पाँचवें स्थानमें है, भृगुवल्लीमें स्थित आनन्दके समान) ऐसी अनुमानकी शंकाकर कहते हैं—'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'काम्यत इति काम आनन्दः' सबके द्वारा आनन्दकी ही कामना की जाती है, अतः काम आनन्द है । इसलिए जैसे भृगुवल्लीमें आनन्द ब्रह्म है वैसे ब्रह्मवल्लीमें स्थित आनन्दमय भी ब्रह्म है, ऐसी अनुमानकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ आनन्दयके साथ विकारार्थक मयट् होनेसे विरोध है । विकार-रूप आनन्दमयमें निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः आनन्दमय ब्रह्म नहीं है । यहाँ यदि भेदका उपदेश है तो सगुण ब्रह्म ही भेदरूपसे प्रतिपादित हुआ ? यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' (ब्र० सू० १।१।१९) गुहानिहित है, अतः प्रत्यक् और पुच्छ वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्म वह एक ही है, ऐसा उपसंहार होनेपर 'मैं ही पर ब्रह्म हूँ' इस प्रकार प्रबोध विशिष्ट आनन्दमय जीवका 'यदा ह्येवैष' (तै० २।७) इस श्रुतिमें ब्रह्मभावरूपसे उपदेश किया गया है । इसकारण निर्गुण ब्रह्मैक्य ज्ञानके लिए जीवभेदका अनुवाद मात्र है, अतः आनन्द ब्रह्म है ।

अथाध्यात्ममपि 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते (छा० १।७।१,५) इत्यादि। * तत्र संशयः—किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते, किंवा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम् ? संसारीति। कुतः ? रूपवत्त्व-श्रवणात्। आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम्। अक्षिपुरुषेऽपि तदेवा-तिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति। नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १।३।१५) इति श्रुतेः, आधारश्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति। नह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च। 'स एष ये चामुष्मात्प-राञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा। 'स एष

जाता है) यह अधिदैवत है। अब 'अथ य०' (जो यह नेत्रके भीतर पुरुष दिखाई देता है) इत्यादि श्रुतिसे अध्यात्म कहा जाता है। यहाँ संशय होता है कि क्या अतिशय विद्या और कर्मके प्रभावसे उत्कर्ष प्राप्त करनेवाला कोई संसारी सूर्य मण्डलमें तथा चक्षुमें उपास्यरूपसे श्रुत है अथवा नित्य सिद्ध परमेश्वर ? तब क्या प्राप्त होता है ? पू०-यहाँ संसारी उपास्यरूपसे निर्दिष्ट है, क्योंकि रूपवत्त्वका श्रवण है। आदित्यपुरुषमें 'हिरण्य (सुवर्ण) सी मूछें हैं' इत्यादि रूपका उदाहरण है। और 'तस्यैतस्य०' (इस अक्षिपुरुषका वही रूप है जो कि आदित्यपुरुषका रूप है) इस श्रुतिसे अक्षिपुरुषमें भी अतिदेशसे वही रूप प्राप्त होता है। परन्तु परमेश्वरका रूपवत्त्व होना युक्त नहीं है, क्योंकि 'अशब्दम०' (वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूपरहित और अविनाशी है) ऐसी श्रुति है। क्योंकि 'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' (जो यह आदित्य मण्डलमें है, जो यह अक्षिके अन्तर है) इस प्रकार आधारका श्रवण है। किन्तु आधार रहित स्वमहिमामें प्रतिष्ठित सर्वव्यापी परमेश्वरका आधार उपदेश नहीं किया जाता, कारण कि 'स भगवः०' (नारद—हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? सनत्कुमार—वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है) और 'आकाशवत्०' (आकाशके समान सर्वव्यापक और नित्य है) ऐसी श्रुतियाँ हैं। क्योंकि आदित्यपुरुष और अक्षिपुरुषकी ऐश्वर्य-मर्यादाकी श्रुति है। 'स एष०' (वह यह उत् नामक देव, जो इस-आदित्यलोकसे ऊपरके लोक हैं

सत्यानन्दी-दीपिका

सिद्धयर्थ शास्त्रोंमें आदित्यमण्डलादिका विधान किया गया है। देवोंका आश्रय कर किया गया विधान अधिदैवत है और देहादिका आश्रय कर किया गया विधान अध्यात्म है। आदित्यमण्डलमें जो उपास्य है वही देहसे सम्बन्धित होकर अध्यात्मरूपसे भी कहा गया है।

* पूर्व अधिकरणमें ब्रह्मपद, आनन्दमय पद और आनन्दका अभ्यास इन तीनों प्रमाणों तथा अन्य प्रमाणोंसे जैसे निर्गुण ब्रह्मका निर्णय किया गया है, वैसे रूपवत्त्वादि अनेक प्रमाणोंसे जीव हिरण्मय है, इस प्रकार पूर्व अधिकरण सिद्धान्तसे दृष्टान्तसंगतिद्वारा पहले सामान्यतः सिद्ध निर्गुण ब्रह्मसमन्वयके अपवादार्थ 'संसारी' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं। 'हिरण्यश्मश्रुः' इस श्रुतिसे आदित्य-पुरुषमें तथा 'तदेव रूपं' इस † अतिदेश श्रुतिसे अक्षिपुरुषमें रूपका श्रवण होता है। इससे आदित्यमण्डलस्थ एवं अक्षिस्थ संसारी पुरुष उपास्य सिद्ध होता है रूपादि रहित परमेश्वर नहीं।

---

† टि०—'एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धोऽतिदेशः' (एकत्र श्रुतका अन्य स्थलमें श्रवण या सम्बन्ध अतिदेश है, जैसे यहाँ आदित्य पुरुषके रूपका अक्षिपुरुषमें श्रवण है। अथवा 'तद्वदिदं कर्तव्यमतिदेशः' 'उसके समान यह करना चाहिए वह अतिदेश है।'

ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्यक्षिपुरुषस्य। नच **परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्**, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) **इत्यविशेषश्रुतेः। तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर** * **इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः**—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति, 'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति **च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी। कुतः? तद्धर्मोपदेशात्। तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः। तद्यथा**—'तस्योदिति नाम' **इति श्रावयित्वा तस्यादित्यपुरुषस्य नाम** 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' **इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति। तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति**—'यन्नाम तन्नाम' **इति। सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते**—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) **इत्यादौ। तथा चाक्षुषे पुरुषे** 'सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' **इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति। सा च परमेश्वरस्योपपद्यते; सर्वकारणत्वात्सर्वात्मकत्वोपपत्तेः। पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनु-**

और जो देवताओंके भोग हैं उनपर शासन करता है) इस प्रकार आदित्यपुरुषकी मर्यादाकी श्रुति है और 'स एष०' (अक्षिस्थ वह यह उत्-अक्षिपुरुष नामक देव जो इस अध्यात्म आत्मासे नीचेके लोक हैं उनका तथा मानवीय कामनाओंका शासन करता है) इस प्रकार अक्षिपुरुषकी मर्यादाकी श्रुति है। परन्तु परमेश्वरका ऐश्वर्य सीमित होना युक्त नहीं है, क्योंकि 'एष सर्वेश्वर०' (यह सर्वेश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति है, यह भूतोंका पालक है, लोकोंकी मर्यादा छिन्न-भिन्न न हो इसलिए यह सारी व्यवस्था करनेवाला सेतु है अर्थात् सेतुके समान नियामक है) ऐसी अविशेष श्रुति है। इससे सिद्ध होता है कि नेत्र और आदित्यके अन्तर पुरुष परमेश्वर नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'य एषो०' (यह जो आदित्यके भीतर है) 'य एषो०' (जो यह चक्षुके आन्तर है) इस प्रकार श्रूयमाण परमेश्वर ही है संसारी नहीं, क्यों? 'तद्धर्मो०' उस परमेश्वरके धर्मोका ही यहाँ उपदेश किया गया है। जैसे कि 'तस्यो०' (उसका 'उद्' यह नाम है) इस प्रकार इस आदित्य पुरुषके नामका श्रवण कराके 'स एष०' (वह यह सब पापोंसे मुक्त है) इस तरह सभी पापोंके अपगमसे 'उत्' नामका श्रुति निर्वचन करती है। और निर्वचन किये हुए उसी नामका अक्षिपुरुषमें 'यन्नाम तन्नाम' (जो आदित्य पुरुषका नाम है वही अक्षिपुरुषका नाम है) यह श्रुति अतिदेश करती है। 'य आत्मा०' (जो आत्मा पाप रहित है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें परमात्मा ही सर्वपापरहित सुना जाता है। इसीप्रकार 'सैव ऋक्०' (वही अक्षिपुरुष ऋक्, वही साम, वही उक्थ, वही यजु और वही ब्रह्म है) यह श्रुति अक्षिपुरुषमें ऋक् सामादिकी आत्मकताका निर्धारण करती है। वह सर्वात्मकता परमेश्वरमें ही उपपन्न है, क्योंकि वह सबका कारण होनेसे सर्वात्मक हो सकता है। ऋक् पृथिवी और साम

सत्यानन्दी-दीपिका

* यद्यपि 'न ह वै देवान्पापं गच्छति' (बृह० १।५।२०) (देवोंको कोई पाप नहीं लगता) इस श्रुतिके आधार पर आदित्य पुरुष आदि भी पाप रहित होनेसे उपास्य हो सकते हैं, तो भी इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि देवत्वकालमें कर्मके अनधिकारी देवोंका क्रियमाण पाप अथवा उसके फलके साथ सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु उनके पूर्व जन्म संचित पापोंके होनेसे वे सर्वपाप रहित नहीं हो सकते। यदि वे बिल्कुल पाप रहित हों तो 'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' (छा० ५।१०।५) (वहाँ कर्मोंके क्षय होने तक रहकर वे पुनः इसी मार्ग से जिस प्रकार गये थे उसीप्रकार लौटते हैं) इत्यादि श्रुति और 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता० ९।२१) (पुण्य कर्म क्षीण होनेपर वे पुनः लौटकर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) स्मृति वचन बाधित हो जाएँगे। अतः 'आत्माऽपहतपाप्मा' यह ठीक ही कहा गया है कि परमात्मा सर्वपाप रहित है और वही उपास्य है।

कस्याह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम्। तथाऽध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति। तच्च सर्वात्मन एवोपपद्यते। 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' (छा० १।७।६) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति। तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते; 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्' (१०।४१) इति भगवद्गीतादर्शनात्। लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति। * यदुक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्। 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति स्मरणात्। अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि। सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिना। तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति। यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते—स्वमहिम-

---

अग्नि है यह अधिदैवत और वाक् प्राणादि आत्मक ऋक्, साम है अर्थात् वाक् ऋक् और प्राण साम है इस तरह अध्यात्मका आरम्भकर श्रुति कहती है—'तस्य ऋक् च०' (उस आदित्यपुरुषके ऋक् और साम पर्व-अङ्गोंकी संधियाँ हैं) यह अधिदैवत है। इसीप्रकार 'यावमुष्य०' (जो आदित्य-पुरुषके पादपर्व हैं वे अक्षिपुरुषके पादपर्व हैं) यह अध्यात्म भी है। यह सब सर्वात्मक परमेश्वरमें घट सकता है। 'तद्य इमे०' (अतः जो ये लोग वीणामें गायन (स्तुति) करते हैं वे उस परमेश्वरका ही गायन करते हैं, इसीसे वे धन लाभ करते हैं) इसप्रकार श्रुति लौकिक गानोंमें भी उसका गान दिखलाती है। यह सब परमेश्वरके परिग्रहसे घट सकता है, क्योंकि 'यद्यद्विभूति०' (हे कौन्तेय! जो जो भी ऐश्वर्यशाली, श्रीयुक्त-कान्तियुक्त, शक्तियुक्त वस्तु है उस उसीको तूँ मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई जान) ऐसा भगवद्गीतामें देखा जाता है। तथा लोक और भोगपर स्वतन्त्ररूपसे श्रूयमाण स्वामित्व भी परमेश्वरका ही ज्ञान कराता है। जो यह कहा गया है कि हिरण्यश्मश्रुत्वादि रूपका श्रवण परमेश्वरमें उपपन्न नहीं है। इस विषयमें हम कहते हैं—साधकोंपर अनुग्रह करनेके लिए इच्छावश परमेश्वर का मायामय रूप हो सकता है, क्योंकि 'माया ह्येषा०' (हे नारद! सब भूतोंके गुणोंसे युक्त जो मुझे देखता है यह मायाका कार्य होनेसे विचित्र मूर्तिरूप माया मेरी उत्पन्न की हुई है, अतः इस प्रकार मुझे जाननेके लिए तूं योग्य नहीं है) ऐसी स्मृति है। और जहाँ सभी उपाधियोंसे रहित निर्विशेष परमेश्वरके स्वरूपका उपदेश किया जाता है, वहाँ 'अशब्दम०' (वह शब्द-रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अविनाशी है) इत्यादि शास्त्र है। सबका कारण होनेसे कुछ विकारोंके धर्मोंसे युक्त परमेश्वरका भी उपास्यरूपसे 'सर्व कर्मा०' (सम्पूर्ण रचनात्मक कर्मवाला, सर्वकामना वाला, सर्व गन्ध युक्त और सर्व रसयुक्त है) इत्यादि श्रुतिसे निर्देश किया जाता है। इसी प्रकार हिरण्यश्मश्रुत्वादिका निर्देश भी हो जायगा। आधारका श्रवण होनेसे आदित्यपुरुष तथा अक्षिपुरुष परमेश्वर नहीं है, ऐसा जो कहा गया है। उसपर कहते हैं—स्वमहिमामें प्रतिष्ठित परमेश्वर-

सत्यानन्दी-दीपिका

* पूर्वपक्षीने पहले 'रूपवत्त्वश्रवणात्' इस हेतुसे आदित्यपुरुषका और अक्षिपुरुषका ग्रहण किया है; अब उसका 'स्यात्परमेश्वरस्यापि०' इत्यादि भाष्यसे खण्डन करते हैं। भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए मायोपाधिसे परमेश्वर अनेक रूप धारण करते हैं, जैसे कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (परमेश्वर ज्ञान, बल और क्रिया रूप मायासे अनेक रूपोंको प्राप्त होता है) यह श्रुति है ॥२०॥

प्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव । तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—भेदव्यपदेशात्, च, अन्यः ।

सूत्रार्थ—(अन्यः) अक्षि और आदित्यके अन्तर श्रूयमाण अन्तर्यामी पुरुष आदित्य आदि शरीराभिमानी जीवोंसे अन्य है, (भेदव्यपदेशात्) क्योंकि 'य आदित्ये तिष्ठन' इस श्रुतिमें जीव नियम्य और परमेश्वर नियामक इस प्रकार दोनोंके भेदका व्यपदेश है ।

***अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी**; 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।९) **इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात् । तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते; स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति; श्रुतिसामान्यात् । तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम्॥२१॥**

(८ आकाशाधिकरणम् । सू० २२)

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

पदच्छेद—आकाशः, तल्लिङ्गात् ।

सूत्रार्थ—(आकाशः) 'आकाश इति होवाच' यहाँ आकाश शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण है, (तल्लिङ्गात्) क्योंकि 'सर्वाणि ह वा' इस प्रकार सभी भूतोंके उत्पत्ति आदि परब्रह्मका ही लिङ्ग है ।

* **इदमामनन्ति**—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि

का भी आधार विशेष उपदेश उपासनाके लिए हो जायगा, क्योंकि आकाशके समान सर्वव्यापक होनेसे ब्रह्म सर्वान्तर हो सकता है । ऐश्वर्यमर्यादाका श्रवण भी अध्यात्म और अधिदैवत विभागकी अपेक्षा रखता हुआ केवल उपासनाके लिए है । इसलिए अक्षि और आदित्यके भीतर परमेश्वरका ही उपदेश है ॥ २० ॥

और आदित्यादि शरीरोंके अभिमानी जीवोंसे अन्य ईश्वर अन्तर्यामी है, क्योंकि 'य आदित्ये०' (जो आदित्यमें रहता हुआ आदित्यके भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है, जो आदित्यके अन्तर रहकर आदित्यका नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इस प्रकार अन्य श्रुतिमें भेदका व्यपदेश है । वहीं 'आदित्यके भीतर है जिसे आदित्य नहीं जानता' इस प्रकार वेदिता (प्रमाता) आदित्य जीवात्मासे अन्य अन्तर्यामी है ऐसा स्पष्ट निर्देश किया जाता है । यहाँ भी वही आदित्यके अन्तर पुरुष होना युक्त है, क्योंकि दोनों स्थलोंमें श्रुतियाँ समान (एक प्रकारकी) हैं । इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वरका ही यहाँ उपदेश है ॥ २१ ॥

छान्दोग कहते हैं—[शालवत्य–हे जैवलि !] 'अस्य लोकस्य०' (इस पृथिवी लोकका आधार क्या है ? राजा प्रवाहण—आकाश, क्योंकि ये सारे भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाश-

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) और 'य आदित्ये तिष्ठन्' (बृह० ३।७।९) 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (बृह० ३।७।१८) (जो नेत्रमें रहता हुआ) इस प्रकार दोनों श्रुतियाँ एक प्रकारकी हैं और दोनोंका अर्थ एक ही है कि आदित्य और अक्षिस्थ उपास्य पुरुष परमेश्वर ही है । पूर्वपक्षमें जीव उपास्य है और सिद्धान्तमें परमेश्वर उपास्य है ॥ २१ ॥

भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छान्दो० १।९।१) इति। तत्र संशयः–किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयत उत भूताकाशमिति। कुतः संशयः? उभयत्र प्रयोगदर्शनात्। भूतविशेषेतावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते। यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा—'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० २।७) इति, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति चैवमादौ। अतः संशयः किं पुनरत्र युक्तम्? * भूताकाशमिति। कुतः? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति। न चायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात्। तस्माद् ब्रह्मणि गौण एवाकाशशब्दो भवितुमर्हति। विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति। नच मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति। संभवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम्। ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते–'सर्वाणि ह वा इमानिभूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः। नैष दोषः; भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः। विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' (तै० २।१) इत्यादि। ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि। तस्मादाकाश-

---

को ही लय होते हुए प्राप्त होते हैं; आकाश ही इन सभीसे महान् और आकाश ही आश्रय है) यहाँ संशय होता है कि क्या आकाश शब्दसे परब्रह्मका अभिधान किया जाता है अथवा भूताकाशका? संशय क्यों होता है? इससे कि दोनोंमें आकाश शब्दका प्रयोग दिखाई देता है। लोक और वेदमें आकाश शब्द भूताकाशमें तो सुप्रसिद्ध है। कहीं ब्रह्ममें भी प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। जहाँ वाक्यशेषके बलसे अथवा असाधारण गुणके श्रवणसे ब्रह्म निर्धारित होता है, जैसे कि 'यदेष आकाश०' (यदि यह आनन्दरूप आकाश न हो) और 'आकाशो वै०' (आकाश ही इस प्रसिद्ध नाम और रूपको प्रकट करने वाला है, वे जिसके आन्तर हैं वह ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंमें है। अतः संशय होता है, तो यहाँ युक्त क्या है? पूर्वपक्षी—यहाँ आकाशशब्दसे भूताकाशका ग्रहण है, क्यों, भूताकाश ही अतिप्रसिद्ध प्रयोग होनेसे बुद्धिमें शीघ्र आरुढ होता है। और यह आकाश शब्द दोनोमें साधारण है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे एक शब्दके अनेक अर्थ होनेका प्रसङ्ग हो जायगा। इससे ब्रह्ममें आकाश शब्द गौण होना युक्त है, कारण कि विभुत्वादि अनेक धर्मोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्म आकाशके सदृश है। मुख्य अर्थका संभव हो तो गौण अर्थका ग्रहण युक्त नहीं है, अतः यहाँ मुख्य भूताकाशका ही ग्रहण संभव है। भूताकाशका ग्रहण करें तो 'सर्वाणि ह वा०' (निश्चय ये सारे भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इत्यादि वाक्यशेष उपपन्न नहीं होगा? यह दोष नहीं है, क्योंकि भूताकाश भी वायु आदि क्रमसे कारण हो सकता है, और 'तस्माद्वा०' (शास्त्रप्रसिद्ध परोक्ष आत्मा यही माया विशिष्ट आत्मा है उससे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशकी कारणता ज्ञात होती है। अन्य वायु आदि भूतोंकी

सत्यानन्दी-दीपिका

* गत अधिकरणमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर पापरहितत्वादि अव्यभिचारी ब्रह्मके लिंगोंसे रूपवत्त्वादि दुर्बल लिङ्गोंकी व्यवस्था उपाधि द्वारा की गई है। परन्तु यहाँ 'अस्य लोकस्य का गतिः' यह छान्दोग्य श्रुति लिंगसे बलवती है, अतः यहाँ श्रुतिस्थ आकाश शब्दकी अन्य व्यवस्था नहीं की जा सकती अर्थात् यह आकाश शब्द ब्रह्मपरक न होकर भूताकाश परक है। इसप्रकार प्रत्युदाहरणसंगतिसे पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर उसके उत्तरमें 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रका आरम्भ है। 'अस्य लोकस्य' यह छान्दोग्य श्रुति इस अधिकरणका विषयवाक्य है।

शब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमित्येवं॰प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' अकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः ? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेवस मुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्। सत्यम्, दर्शितम्। तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात्। ॐ तथा 'अकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे। ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः'(छा० ३।१४।३)इति। तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपन्नतरम्। श्रुतिश्च—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुःपरायणम्

अपेक्षा भूताकाशमे श्रेष्ठत्व और आश्रयत्व भी उपपन्न है, इसलिए आकाश शब्दसे भूताकाशका ग्रहण युक्त है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि उसका लिङ्ग है। परब्रह्मके ग्रहण करनेमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' यह लिङ्ग प्रमाण है। वेदान्त वाक्योंमें यह मर्यादा है कि परब्रह्मसे ही भूतोंको उत्पत्ति होती है। परन्तु भूताकाश भी वायु आदि क्रमसे कारण दिखलाया गया है? ठीक, दिखलाया गया है, तो भी मूल कारण ब्रह्मके अपरिग्रहसे 'आकाशादेव' (आकाश से ही) 'एव' अवधारण और 'सर्वाणि' (सब) यह भूतोंका विशेषण अनुकूल (संगत) न होगा। उसी प्रकार 'आकाशं०' (आकाशमें लीन होते हैं) यह ब्रह्मका लिङ्ग है। 'आकाशो० (आकाश इनसे महान् है और आकाश परमाश्रय है) इस प्रकार ज्यायस्त्व और परमाश्रयत्व भी ब्रह्मके लिङ्ग हैं। 'ज्यायान्पृथिव्या०' (यह मेरा आत्मा पृथिवीसे बड़ा अन्तरिक्षसे बड़ा द्युलोकसे बड़ा इन सब लोकोंसे बड़ा है) यह श्रुति केवल एक परमात्मामें ही अपेक्षा रहित ज्यायस्त्व कहती है। तथा परमाश्रयत्व भी परम कारण होनेसे परमात्मामें ही युक्त है। 'विज्ञानमानन्दं०' (ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वह धन देने वाले (कर्म करने

सत्यानन्दी-दीपिका

* पूर्वपक्षी—'अस्य लोकस्य' इस छान्दोग्य श्रुतिमें पठित आकाश शब्दसे भूताकाशका ग्रहण करना चाहिए ब्रह्मका नहीं, यदि 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतिके आधारपर आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करें. तो एक आकाश शब्दके भूताकाश और ब्रह्म दो अर्थ मानने पड़ेंगे, ऐसा माननेसे सर्वत्र एक शब्दके अनेक अर्थ माननेका प्रसंग उपस्थित होगा जो सर्वथा अयुक्त है। यदि ऐसा है तो 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मके लिए आकाश शब्द प्रयोग क्यों किया गया है? इसलिए कि 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (ब्रह्म आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) इसप्रकार आकाशके समान विभुत्वादि अनेक धर्म ब्रह्ममें श्रुति प्रतिपादित हैं, इस समानताके कारण ब्रह्ममें आकाश शब्दका गौण प्रयोग किया गया है।

ॐ यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर आकाश शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना ठीक है, भूताकाशका नहीं, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि०' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्म ही सब भूतोंका कारण कहा गया है। यदि भूताकाशको कारण मानें तो तेज आदिकी उत्पत्तिमें वायु आदिको भी कारण मानना पड़ेगा। यदि आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण न करें तो 'आकाशादेव' इस श्रुतिमें अवधारणार्थक 'एव'का बाध होगा। 'सर्वाणि ह वा इमानि०' इस श्रुतिमें 'सर्व' पद आकाश (ब्रह्म) से भिन्न सब भूतोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही कहता है। यदि 'सर्व' पदसे आकाशको छोड़कर वायु आदि शेष भूतोंका ग्रहण करें तो सर्वपदमें अर्थका संकोच करना पड़ेगा जो सर्वथा अयुक्त है, अतः 'सर्व' पदसे आकाशका भी ग्रहण है।

(बृ० ३।९।२८) इति। *अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं किंचि-द्वक्तुकामेन जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति- 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति। तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम्। यत्पुनरुक्तं भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत इति, अत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सन् वाक्यशेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ। तथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १।१६४।३९) 'सैषा भार्गवी वारुणी

वाले यजमानकी परमगति है अर्थात् कर्म फलका दाता है) ऐसी श्रुति भी है। और उसी प्रकार अन्तवात्त्वदोषसे शालावत्यके पक्षकी निन्दाकर किसी अविनाशी वस्तुको कहनेकी इच्छा करनेवाले राजा जैवलिने आकाशका ग्रहण किया है। उस आकाशका उद्गीथमें संपादनकर 'स एष०' (वह यह उद्गीथ परसे पर परम उत्कृष्ट है और यह अनन्त है) ऐसा उपसंहार किया है। वह आनन्त्य ब्रह्मका लिङ्ग है। और जो पुनः यह कहा गया है कि प्रसिद्धिके बलसे आकाश शब्दसे प्रथम भूताकाश प्रतीत होता है। इस विषयमें हम कहते हैं—आकाश पदसे प्रथम भूताकाश प्रतीत होता हुआ भी वाक्यशेषगत ब्रह्म गुणोंको देखकर उसका ग्रहण नहीं किया जाता। और 'आकाशो०' (आकाश ही नाम और रूपको प्रकट करनेवाला है) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्ममें भी आकाश शब्दका प्रयोग दिखलाया गया है। तथा आकाशके पर्यायवाची शब्दोंका भी ब्रह्ममें प्रयोग 'ऋचोऽक्षरे०' (उत्कृष्ट, कूटस्थ इस आकाश (ब्रह्म) में सब वेद प्रमाण हैं और उसीमें देव अधिष्ठित हैं) 'सैषा भार्गवी०'

सत्यानन्दी-दीपिका

* छान्दोग्योपनिषद् अध्याय १, खण्ड ८—दालभ्य, शालावत्य ब्राह्मण और राजा जैवलि ये तीनों उद्गीथविद्यामें कुशल थे, परस्पर विचार आरम्भ किया कि उद्गीथकी प्रतिष्ठा क्या है ? दालभ्य—ओंकाररूप उद्गीथका कारण स्वर (ध्वनि) है, उसका कारण ? प्राण (बल) है, उसका कारण ? अन्न है, अन्नका कारण ? जल-वर्षा है, उसका कारण ? स्वर्ग (अन्तरिक्ष) है, उसका कारण ? कोई नहीं, स्वर्गस्थ देवगण प्रसन्न होकर यथासमय वृष्टि करते हैं, उससे अन्न, अन्नसे प्राण (बल), प्राणसे ध्वनि (बोलनेकी शक्ति) और ध्वनिसे ओंकार रूप उद्गीथ। इस प्रकार परम्परासे ओंकार-रूप उद्गीथकी प्रतिष्ठा स्वर्ग है। यह सुनकर शालावत्यने कहा—हे दालभ्य ! स्वर्गकी प्रतिष्ठा यह रथान्तर साम (पृथ्वी) है, क्योंकि यहाँ यज्ञादि कर्म होते हैं, जिससे स्वर्गस्थ देवगण जीवित रहते हैं अथवा सन्तुष्ट होते हैं। इसलिए उद्गीथकी प्रतिष्ठा रथान्तर साम है अर्थात् पृथ्वी लोक है, उसका कारण कोई नहीं। राजा जैवलि—'अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम' (छा० १।८।८) (हे शालावत्य ! निश्चय, यह तेरा साम अन्तवाला है अर्थात् यह पृथ्वी लोक परिच्छिन्न और नाशवान् है) तुमने यह मिथ्या कहा कि उद्गीथकी प्रतिष्ठा पृथ्वी लोक है, इस अपराधके कारण यदि कोई ऐसा कह देता कि तेरा मस्तक गिर जाय तो तेरा मस्तक गिर जाता। तब भयभीत होकर शालावत्य बोला—'हे जैवलि ! 'अस्य लोकस्य का गतिः' (इस पृथ्वी लोककी प्रतिष्ठा क्या है ?) जैवलि—'आकाश इति सोवाच' (यह आकाश है ऐसा कहा) इस प्रकार जैवलिने विनाशित्व और परिच्छिन्नत्व दोष देकर शालावत्यके पक्षकी निन्दाकी और उद्गीथकी प्रतिष्ठा आकाश कहा, अतः यहाँ अनन्त आकाश-ब्रह्मका ग्रहण है। 'उद्गीथ आकाश ही है' इस प्रकार उद्गीथमें आकाशका संपादन करनेसे आकाशके अनन्त आदि गुणोंसे युक्त उद्गीथमें आकाशदृष्टिकर उपासना करनी चाहिए। यद्यपि आकाश शब्दसे सहसा भूताकाश ही प्रतीत होता है, तो भी 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इस वाक्यशेषके बलसे आकाश शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना युक्त है।

विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' (तै० ३।६) ॐ 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'खं पुराणम्' (बृ० ५।१) इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा। 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते। तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥२२॥

(९ प्राणाधिकरणम् । सू० २३)

अत एव प्राणः ॥२३॥

पदच्छेद—अतः, एव, प्राणः।

सूत्रार्थ—(अतएव) पूर्व सूत्रोक्त उत्पत्ति आदि लिङ्गोंसे (प्राणः) 'प्राण इति होवाच' इस श्रुतिस्थ प्राण परमात्मा ही है।

ॐ **उद्गीथे**—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १।१०।९) **इत्युपक्रम्य श्रूयते**— 'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छां० १।११।४,५) **इति तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ**। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छां० ६।८।२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।२८) इति

(यह भार्गवी वारुणी विद्या परब्रह्ममें प्रतिष्ठित है) 'ॐ कं ब्रह्म०' (ॐ क-सुख ब्रह्म है, ख-आकाश-व्यापक-ब्रह्म है) और 'खं पुराणम्०' (ख पुराण है) इत्यादि श्रुतियोंमें देखा जाता है। वाक्यके आरम्भमें भी वर्तमान आकाश शब्दका वाक्यशेषके बलसे ब्रह्मविषयक निश्चय करना युक्त है। [इसमें उदाहरण देते हैं] 'अग्निरधीते' (अग्नि अनुवाक-वेदभाग का अध्ययन करता है) इस वाक्यके आरम्भमें प्राप्त अग्नि शब्द भी माणवक विषयक देखा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश शब्द ब्रह्मविषयक है ॥ २२ ॥

सामवेदीय उद्गीथ प्रकरणमें 'प्रस्तोतर्या देवता०' (हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्तावमें अनुगत है) ऐसा आरम्भकर 'कतमा सा०' (वह प्रस्ताव अधिष्ठातृ देवता कौन है ? चाक्रायण—प्राण है, ऐसा कहा, क्योंकि ये सभी भूत प्राणमें ही प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् लीन हो जाते हैं, प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं, वह यह प्राण देवता ही प्रस्तावमें अनुगत है) ऐसा श्रुति कहती है। उसमें संशय और निर्णय पहलेके समान ही समझने चाहिएँ। 'प्राणबन्धनं' (हे प्रिय ! मन उपाधिसे उपलक्षित जीव प्राण बन्धन वाला है अर्थात् प्राणोपलक्षित ब्रह्मके साथ सुषुप्तिमें एक होता है) और 'प्राणस्य०' (जो उसे प्राणका प्राण जानते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें प्राणशब्द ब्रह्मविषयक देखा

सत्यानन्दी-दीपिका

ॐ छान्दोग्यादि उपनिषदोंमें 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' 'खं ब्रह्म, खं पुराणम्' 'परमे व्योमन्' इसप्रकार आकाशके पर्यायवाची 'ख व्योम' आदि शब्दोंका प्रयोग ब्रह्ममें देखा जाता है। और आनन्दके पर्यायवाची कं शब्दका प्रयोग ब्रह्ममें किया गया है, किन्तु लोक प्रसिद्ध भूताकाशमें नहीं, क्योंकि वह जड़ है। और उत्पद्यमान होनेसे 'खं पुराणम्' वह अनादि भी नहीं है, इसलिए 'आकाश इति होवाच' इस श्रुतिमें आकाश शब्द ब्रह्मपरक ही है। पूर्वपक्षमें भूताकाश दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना है, सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे ॥ २२ ॥

ॐ भगवान् सूत्रकार आकाश वाक्यमें उक्त न्यायका 'प्राण इति होवाच' इस वाक्यमें अतिदेश करते हैं अर्थात् 'आकाश इति होवाच' जैसे यहां आकाश शब्द ब्रह्मपरक है, वैसे ही 'प्राण इति होवाच' इस वाक्यगत प्राणशब्द भी ब्रह्मपरक है। इसप्रकार अतिदेश संगतिसे 'अत एव प्राणः' इस सूत्रका उल्लेख करते हैं। एक समय दुर्भिक्षसे पीड़ित उषस्ति नाम चक्रका पुत्र चाक्रायण धनकामनासे राजाके यज्ञमें गया, वहां ऋत्विजोंमें से पहले प्रस्तोतासे प्रश्न किया—(हे प्रस्तोता ! जो

चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते; वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः। किं पुनरत्र युक्तम् ? वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम्। तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम। ननुपूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद्ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम्। इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते। न, मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात्। एवं ह्याम्नायते–'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः' 'स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति। प्रत्यक्षं चैतत्, स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्य-मानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च पुनः प्रादुर्भवन्तीति। *इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः। अपि चादित्योऽन्नं

जाता है। देहमें चलने वाले वायुके विकार प्राणमें तो लोक और वेदमें प्राण शब्द अतिप्रसिद्ध है। इसलिए यहाँ प्राण शब्दसे किसका ग्रहण करना युक्त है, ऐसा संशय होता है। तो यहाँ किसका ग्रहण युक्त है ? वायुके विकार पाँच वृत्तिवाले प्राणका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि उसमें ही प्राणशब्द विशेषरूपसे प्रसिद्ध है, ऐसा हम कह चुके हैं। यदि कहो कि पूर्व अधिकरणके समान इस अधि-करणमें भी ब्रह्मके लिङ्गोंसे ब्रह्मका ही ग्रहण युक्त है। क्योंकि यहाँ भी वाक्य शेष [सर्वाणि ह वा इमानि] में भूतोंका लय और उद्गम परमेश्वरका कर्म प्रतीत होता है। तो यह ठीक नहीं है, कारण कि मुख्यप्राणमें भी भूतोंके लय और उद्गम देखे जाते हैं। श्रुति ऐसा कहती है कि 'यदा वै०' (निश्चय जब पुरुष सोता है तब वाणी प्राणमें ही लीन होती है, चक्षु प्राणमें, श्रोत्र प्राणमें और मन प्राणमें लीन होता)। और यह प्रत्यक्ष है कि सुषुप्ति कालमें प्राणव्यापारके अलुप्त होनेपर भी इन्द्रियोंके व्यापार लुप्त हो जाते हैं और जाग्रत् कालमें प्रकट होते हैं। और इन्द्रियाँ भूतोंकी साररूप हैं, इसलिए भूतोंके लय और उद्गमका प्रतिपादक वाक्यशेष मुख्य प्राणमें भी विरुद्ध नहीं है। किञ्च प्रस्तावदेवता प्राणके कथनानन्तर उद्गीथ और प्रतिहारके देवता आदित्य और अन्नका निर्देश है। जैसे ये दोनों (आदित्य और अन्न) ब्रह्म नहीं है, वैसे ही उनके सादृश्यसे प्राण भी ब्रह्म

सत्यानन्दी-दीपिका

देवता प्रस्ताव-भक्तिमें अनुगत है, यदि तू उसे विना जाने प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा) इसीप्रकार उद्गाता और प्रतिहर्तासे भी कहा। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि 'पञ्च भक्तिकं साम सप्त भक्तिकं सामेति' 'पाँच भक्ति साम और सात भक्ति साम इसप्रकार सामके दो भेद हैं।' यहाँ भक्तिशब्द अवयव वाचक है अर्थात् सामवेदके भागको भक्ति कहते हैं। हिंकार, ओंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इनमेंसे प्रस्तावका गायन करनेवाला प्रस्तोता, उद्गीथ-का गायन करनेवाला उद्गाता और प्रतिहारका गायन करनेवाला प्रतिहर्ता कहलाता है। उपद्रव और निधन दोनोंको तीनों मिलकर गायन करते हैं। और ओंकारको यहाँ पृथक् नहीं कहा गया है। तब प्रस्तोताने चक्रायणसे कहा कि 'प्रस्तावमें अनुगत वह देवता कौन है ? उषस्ति–'प्राण इति होवाच' (वह प्राण है, ऐसा कहा)। इसमें प्राणको ही सभी भूतोंकी उत्पत्ति और लयका कारण कहा गया है। इस कारण प्राणशब्दसे ब्रह्मका ग्रहण हो सकता है वायुके विकार प्राणमें भी लोक और वेदमें प्राण शब्द प्रसिद्ध है, तो इससे सन्देह होता है कि यहां प्राण शब्दसे किसका ग्रहण करना युक्त है ?

* समाधान—'इंद्रियसारत्वाच्च' 'त्यस्य ह्येष रसः' बृह० (२।३।५) (इन्द्रियाँ त्यत्-आका-शादिका सार हैं) इससे यह स्पष्ट होता है कि इन्द्रियाँ अपञ्चीकृत भूतोंकी साररूप हैं) उनके लयादिके कथनसे भूतोंके भी लयादि प्राणमें सिद्ध होते हैं, इसप्रकार 'सर्वाणि ह वा' यह वाक्यशेष भी संगत है। उसी प्रसंगमें उद्गाताने चाक्रायणसे पूछा 'कतमा सा देवता' (छा १।११।६) (उद्गीथमें

चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते। न च तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमित्येवं प्राप्ते सूत्रकार आह—'अत एव प्राणः' इति। 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम्। अत एव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति। प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसंबन्धः श्रूयते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते (छा० १।११।५) इति। प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः। ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं; स्वाप प्रबोधयोर्दर्शनादिति। अत्रोच्यते,—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम्। इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानां; 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' (छा० १।११।५) इति श्रुतेः। यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते, तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्। * ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्य-

---

नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर भगवान् सूत्रकार कहते हैं—'अत एव प्राणः तल्लिङ्गात्' ऐसा पूर्व सूत्रमें निर्देश किया गया है, इससे उसके लिङ्गोंसे प्राणशब्द वाच्य परब्रह्म होना चाहिए, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि' यह श्रुति प्राणका भी ब्रह्मलिङ्गके साथ सम्बन्ध कहती है। इसमें प्राण निमित्तक सभी भूतोंके कहे हुए उत्पत्ति और प्रलय प्राणमें ब्रह्मत्वका बोध कराते हैं। परन्तु जो यह कहा गया है कि मुख्य प्राणका परिग्रह होनेपर भी लय और उत्पत्तिका दर्शन विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति और जाग्रत्में ऐसा देखनेमें आता है। इसपर कहते हैं—सुषुप्ति और प्रबोध कालमें केवल इन्द्रियोंके ही प्राणाश्रय लय और उद्गम देखे जाते हैं सब भूतोंके नहीं, परन्तु यहाँ तो इन्द्रिय सहित, शरीर सहित और जीवसे सम्बद्ध भूतोंके प्राणाश्रय लय और उद्गम हैं, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि' ऐसी श्रुति है। यदि यह भूतश्रुति महाभूत विषयक गृहीत हो तो भी ब्रह्मलिङ्गत्वमें कोई विरोध नहीं हैं। परन्तु इसप्रकार हम सुनते हैं कि सुषुप्ति और जाग्रत् कालमें विषयों सहित इन्द्रियोंका प्राणमें लय और प्राणसे उद्भव होता है, क्योंकि 'यदा सुप्तः०' (जब सोता हुआ पुरुष कुछ स्वप्न नहीं

सत्यानन्दी-दीपिका

कौन देवता अनुगत है ?) चाक्रायण—'आदित्य इति होवाच' (छा० १।११।७) (आदित्य है, ऐसा कहा) प्रतिहर्ता—'कतमा सा देवता' (प्रतिहारमें कौन देवता अनुगत है ?) 'अन्नमिति होवाच' (छा० १।११।९) (वह देवता अन्न है, ऐसा कहा) इसप्रकार प्रस्ताव देवताके कथनानन्तर उद्गीथके देवता आदित्य और प्रतिहारके देवता अन्नका कथन किया गया है। इस प्रश्नोत्तरमें जैसे आदित्य और अन्न ब्रह्म नहीं हैं, वैसे ही यहाँ आदित्य और अन्नके सन्निहित पठित होनेसे प्राण भी ब्रह्म नहीं है। इसलिए 'प्राण इति होवाच' यहाँ प्राण शब्दसे वायुके विकार पाँच वृत्तिवाले प्राणका ग्रहण करना युक्त है।

* 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १।९।१) (ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इस श्रुतिमें जैसे भूतोंका विशेषण 'सर्व' पद आकाशमें ब्रह्मत्वका बोधक लिङ्ग है, वैसे ही 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' (छा० १।११।५) इस श्रुतिमें भी भूतोका विशेषण 'सर्व' पद प्राणमें ब्रह्मत्वका बोधक लिङ्ग है। इससे 'प्राण इति होवाच' यहाँ प्राण शब्द ब्रह्मपरक है। किञ्च 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' यह श्रुति सब भूतोंके साथ वायुकी भी उत्पत्ति कहती है, और 'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न होता है) इस अन्य श्रुतिमें भी वायुकी उत्पत्ति कही गई है। इससे जब प्राणका कारण भूत वायु भी सब भूतोंके लय और उद्गमका कारण नहीं तो वायुका विकार प्राण सब भूतोंके लय और उद्गमका कारण हो यह कथन केवल साहस मात्र है।

थास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति। तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरुक्तम्—अन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति, तदयुक्तम्; वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्करत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वं, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्। तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्। अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इति च;—तदयुक्तं; शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः। यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् 'प्राणस्य प्राणम्' इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणादन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते। नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति। * यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते। यथा

देखता तब यह प्राणमें ही एक होता है और उसी समय उसमें सभी नामोंके साथ वाणी लीन होती है) यह श्रुति है। इसमें भी ब्रह्मके लिंगोंसे प्राणशब्द वाच्य ब्रह्म ही है। और जो यह कहा गया है कि अन्न और आदित्यकी संनिधिसे प्राण ब्रह्म नहीं है, वह अयुक्त है, क्योंकि वाक्यशेषके बलसे प्राण शब्द ब्रह्मविषयक प्रतीत होनेपर सन्निधान प्रयोजन रहित है। पुनः यह भी कहा गया है कि प्राणशब्द पाँच वृत्तिवाले मुख्य प्राणमें अतिप्रसिद्ध है, उस आक्षेपका परिहार आकाश शब्दके समान समझना चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रस्तावका देवता प्राण ब्रह्म है। यहाँ वृत्तिकार 'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य ! मन उपहित जीव प्राण-ब्रह्मके साथ सुषुप्तिमें एक होता है) इसप्रकार श्रुतिका उदाहरण देते हैं। वह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द भेदसे और प्रकरणसे संशय नहीं हो सकता। यथा 'पितुः पिता' (पिताका पिता) इस प्रयोगमें षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट पिता अन्य है और प्रथमानिर्दिष्ट पिता अन्य है, इससे 'पितुः पिता' ऐसा अवगत होता है। वैसे ही 'प्राणस्य प्राणम्' (प्राणका प्राण) इसमें शब्दभेदसे प्रसिद्ध मुख्य प्राणसे भिन्न प्राणका प्राण है ऐसा निश्चित होता है, क्योंकि एक ही पदार्थ 'तत्' से कहा हुआ 'तस्य' (उसका) इसप्रकार भेद निर्देशके योग्य नहीं होता अर्थात् प्रथमासे कहे हुए पदार्थको भेदरूप षष्ठीसे कहना युक्त नहीं है। जिसके प्रकरणमें जो निर्दिष्ट होता है उस प्रकरणमें अन्य नामसे भी वही प्रकरणी (प्रकृत) निर्दिष्ट होता है, ऐसा ज्ञात होता है। जैसे ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें 'वसन्ते वसन्ते०' (प्रति वसन्त ऋतुमें ज्योतिः याग करे)

सत्यानन्दी-दीपिका

* किञ्च अन्न और आदित्यकी संनिधिमें पठित होनेसे भी प्राण ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वाक्यान्तर-संनिधिकी अपेक्षा स्ववाक्यावगत लिंग बलवान् होता है 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः।' (हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, कण्ठ-देशमें उदान और व्यान सारे शरीरमें है) इसप्रकार पाँच वृत्तिवाला शरीरान्तः संचारी वायुका विकार प्राण यहाँ प्राणशब्दसे ग्राह्य नहीं है। आकाशशब्द लोकप्रसिद्ध भूताकाशमें अतिप्रसिद्ध होनेपर भी जैसे 'आकाश इति होवाच' यहाँ ब्रह्मपरक है, वैसे ही प्राण शब्द अध्यात्म मुख्य प्राणमें अतिप्रसिद्ध होनेपर भी 'प्राण इति होवाच' यहाँ ब्रह्मपरक ही है। वृत्तिकार 'प्राणस्य प्राणम्' को इस अधिकरणका विषय वाक्य मानते हैं, परन्तु भगवान् भाष्यकारने शब्दभेद और प्रकरण इन दो हेतुओंसे उसका खण्डन किया है। परन्तु 'पुरुषस्य चैतन्यम्' 'राहोः शिरः' जैसे यहां अभेदमें भी षष्ठी और प्रथमा विभक्तिका निर्देश है, वैसे 'प्राणस्य प्राणम्' यहाँ भी होना चाहिए ? परन्तु यहाँ तो दोनों शब्दोंसे निर्दिष्ट पदार्थोंमें भेद है।

ज्योतिष्टोमाधिकारे—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इति श्रुतः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् ? अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम्। प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥२३॥

(१० ज्योतिश्चरणाधिकरणम् सू० २४-२७)

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

परिच्छेद—ज्योतिः, चरणाभिधानात् ।

सूत्रार्थ—(ज्योतिः) 'यदतः परो दिवो' यहां ज्योतिः शब्दसे ब्रह्म ही ग्राह्य है, (चरणाभिधानात्) क्योंकि 'पादोऽस्य' इस पूर्ववाक्यमें पदका अभिधान है ।

※ **इदमामनन्ति**—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति । तत्र संशयः— **किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादिकं ज्योतिरभिधीयते किंवा परमात्मेति। अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम् ? ※ आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति। कुतः ? प्रसिद्धेः। तमो**

यहाँ ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम विषयक है, वैसे ही परब्रह्मके प्रकरणमें 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इसमें श्रुत प्राणशब्द केवल वायुके विकारमात्रका कैसे बोध करायेगा ? अतः संशयका विषय न होनेसे यह उदाहरण ठीक नहीं है । प्रस्तावके देवता प्राणमें तो संशय, पूर्वपक्ष और निर्णयका उपपादन किया गया है ॥ २३ ॥

छान्दोग कहते हैं—'अथ यदतः०' (तथा इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति विश्वके पृष्ठ पर अर्थात् सबके ऊपर जिससे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें प्रकाशित हो रही है वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुष (देह) के भीतर ज्योति है) यहाँ संशय होता है कि श्रुतिमें ज्योतिः शब्दसे आदित्यादि ज्योतिका अभिधान है अथवा परमात्मा का ? अन्य अर्थ विषयक शब्द भी ब्रह्मलिङ्गसे ब्रह्मविषयक कहा गया है । परन्तु यहाँ ब्रह्मका लिङ्ग है अथवा नहीं, ऐसा विचार किया जाता है, तो क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—ज्योतिः शब्दसे आदित्यादिका ही परिग्रह होता है, क्यों ? क्योंकि उनमें ज्योतिः शब्दकी प्रसिद्धि है । अन्धकार और ज्योति ये दो शब्द परस्पर विरोधी अर्थोंमें प्रसिद्ध हैं ।

सत्यानन्दी-दीपिका

※ यद्यपि 'प्राण इति होवाच' यहाँ एक प्राणशब्द मुख्यप्राणका वाचक है अथवा परब्रह्मका ऐसा संशय हो सकता है, तथापि 'प्राणस्य प्राणम्' इस श्रुति वाक्यमें भिन्न-भिन्न अर्थोंके प्रतिपादक दो प्राण शब्द हैं । इनमें प्रथमाविभक्ति निर्दिष्ट द्वितीय प्राणशब्द ब्रह्मपरक है; इसलिए इस वाक्यसे संशयके असंभवसे पूर्वपक्षका भी अभाव है । इसकारण 'प्राणबन्धनं' इत्यादि श्रुति वाक्योंका उदाहरणरूपसे उल्लेख करना वृत्तिकारको युक्त नहीं है । अतः यहाँ आकाशशब्द के समान प्राणशब्द भी ब्रह्मपरक है । पूर्वपक्षमें प्रस्तावमें लोक प्रसिद्ध मुख्यप्राणदृष्टिसे उपासना है और सिद्धान्त में ब्रह्मदृष्टिसे उपासना है ॥ २३ ॥

※ 'आकाश इति होवाच' 'प्राण इति होवाच' इन दोनों श्रुति वाक्योंमें जैसे आकाश शब्द और प्राणशब्द ब्रह्मवाचक हैं, वैसे 'यदतः परो दिवो' इस श्रुतिमें पठित ज्योतिः शब्द भी ब्रह्मवाचक है, इसे दिखलानेके लिए यह अधिकरण आरम्भ किया जाता है । यथा आकाशशब्द और प्राणशब्द ब्रह्मबोधक लिङ्गसे ब्रह्म विषयक हैं, वैसे इस ज्योतिःवाक्यमें ब्रह्म बोधक लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं होता, इससे यह 'ज्योति' शब्द ब्रह्म परक नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसंगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है ।

ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ। चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते। तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः। तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा। नहि रूपादिहीनं ब्रह्म 'दीप्यते' इति मुख्यां श्रुतिमर्हति। द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च। नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता; कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात्। 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम्। ❀ ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र-गम्यमानत्वाद्द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम्। अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम्। न; अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति। इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत्,-न; प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात्। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३) इति चाविशेषश्रुतेः। न चात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम्। अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम्। ❀ ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति। नैष दोषः; सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। न तु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी। 'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्त-

---

चक्षुवृत्तिका निरोधक रात्रि आदिका अन्धकार तम कहलाता है और उसी व्यापारका सहायक आदित्यादि ज्योतिः कहलाता है। उसी प्रकार 'दीप्यते' (प्रकाशित होता है) यह श्रुति भी आदित्यादि विषयक प्रसिद्ध है, और रूपादि रहित ब्रह्ममें 'दीप्यते' यह श्रुति मुख्यरूपसे नहीं घटती, क्योंकि द्युलोक ज्योतिकी सीमा है, ऐसी श्रुति है। चर और अचर सृष्टिके बीज भूत सर्वात्मक ब्रह्मकी द्युलोक मर्यादा युक्त नहीं है, परन्तु कार्यरूप परिच्छिन्न ज्योतिमें द्युलोक मर्यादा युक्त है; कारण कि 'परो दिवो ज्योतिः' इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ भी है। यदि कहो कि [ब्रह्मके समान] कार्यरूप ज्योति भी सर्वत्र गम्यमान (विद्यमान) है, अतः द्युलोक उसकी मर्यादा है यह कथन असंगत है, तो प्रथम उत्पन्न हुए केवल अत्रिवृत्कृत (तीनों भागोंमें अविभक्त, अन्न, जलसे असम्बद्ध) तेजको ज्योतिः मानो, ऐसा नहीं, क्योंकि अत्रिवृत्कृत तेजका प्रयोजन नहीं है। यदि कहो कि यही प्रयोजन है जो वह (अत्रिवृत्कृत तेज) उपास्य है, तो यह ठीक नहीं है) कारण कि अन्य प्रयोजनमें (अन्धकारकी निवृत्तिमें) प्रयुक्त आदित्य आदि उपास्य देखनेमें आते हैं। और 'तासां त्रिवृतं०' (उनमें एक एकको त्रिवृत त्रिवृत करूँ) यह अविशेष श्रुति है। अत्रिवृत्कृत तेजकी द्युमर्यादा प्रसिद्ध नहीं है, तब तो त्रिवृत्कृत वह तेज ही ज्योतिः शब्द वाच्य होगा। परन्तु जो यह कहा गया है कि द्युलोकसे नीचे भी अग्नि आदि ज्योतिः अवगत होती है, यह दोष नहीं है, सर्वत्र गम्यमान ज्योतिका भी 'परो दिवः' (द्युसेपर) इस प्रकार उपासनाके लिए प्रदेश विशेषका ग्रहण विरुद्ध नहीं है परन्तु प्रदेशरहित ब्रह्ममें प्रदेश विशेषकी कल्पना युक्त नहीं

सत्यानन्दी-दीपिका

❀ यदि कहो कि अज्ञान रूपी अन्धकारका विरोधी ज्ञान स्वरूप ब्रह्म भी ज्योतिः शब्द वाच्य हो सकता है, तो ऐसा नहीं, क्योंकि चक्षु वृत्तिका निरोधक नीला और पदार्थोंका आवर्तक अन्धकार ही तम है, उसका ब्रह्म विरोधी (निवारक) नहीं है, क्योंकि दोनोका परस्पर विरोध ही नहीं है। इसलिए ज्योतिः शब्दसे आदित्यादिका ग्रहण युक्त है।

* 'तासा तिवृतं' तिवृत इसप्रकार है—तेज, जल और पृथिवी इन तीनोंमें से एक एकके दो दो भाग, एक आधा आधा भाग अलगकर दूसरे आधे आधे भागके फिर दो दो भाग। आधा भाग अपना और दो भाग दूसरेके अर्थात् तेजको आधा भाग अपना और चतुर्थांश चतुर्थांश जल और पृथ्वीके, इसीप्रकार तेज आदि त्रिवृत्कृत होते हैं, जिस प्रकार रस्सी तीनगुणवाली होती है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भने त्रिवृत्कृत स्थूलसृष्टिका आरम्भ किया। इस त्रिवृत्करणके विना तेज और उसकी सीमा प्रसिद्ध नहीं है तो त्रिवृत्कृत तेजकी ही ज्योतिःशब्द वाच्य मानना चाहिए।

मेपु लोकेपु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम्। 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः-पुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते। सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति। यथा—तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' (बृ० ५।५।३) इति। कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम्; 'तस्यैषा दृष्टिः' 'तस्यैषा श्रुतिः' (छा० ३।१३।८) इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात्। * 'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति च श्रुतेः 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' (छा० ३।१३।८) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम्। महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते। नचान्यदपि किंचित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम्। नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति; 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इति छन्दोनिर्देशात्। अथापि कथंचित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यात्, एवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति। तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि (छा० ३।१२।१,६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते, अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्य

है। 'सर्वतः पृष्ठेष्वनु०' (भू आदि सभी लोकोंसे ऊपर जिससे ऊपर उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें) इस तरह बहुतसे आधारोंकी प्रतिपादिक यह श्रुति कार्य ज्योतिमें अधिक संगत होगी। 'इदं वाव०' (वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुष (देह) के भीतर ज्योति है) इससे कुक्षिस्थ ज्योतिमें परज्योतिका आरोप किया हुआ देखा जाता है और सादृश्यनिमित्तक अध्यास होते हैं। जैसे 'तस्य भूरिति शिर एकं०' (उस पुरुषका भूः यह शिर है, क्योंकि शिर एक है और यह भूः अक्षर भी एक है) परन्तु यह प्रसिद्ध है कि कुक्षिस्थ ज्योतिः (जठराग्नि) ब्रह्म नहीं है, क्योंकि 'तस्यैषा दृष्टिः०' (यह उस हृदयस्थ पुरुषकी दृष्टि-दर्शनोपाय है और यह उसकी श्रुति-श्रवणोपाय है अर्थात् देहको स्पर्श करनेसे उष्णताका ज्ञान जठराग्निका दर्शनोपाय है और श्रोत्रको बन्द करनेसे शब्द विशेषका श्रवण जठराग्निका श्रवणोपाय है) इसप्रकार उष्णता और घोषविशिष्टत्वकी यह श्रुति है। 'तदेतद्दृष्टं च०' (वह ज्योति दृष्ट और श्रुत है इसप्रकार उपासना करे) इस श्रुतिसे और 'चक्षुष्य श्रुतो०' (जो उपासक ऐसा जानता है, वह दर्शनीय और विख्यात होता है) इस अल्पफलके श्रवण (श्रुति) से ज्योति ब्रह्म नहीं है। निश्चय ब्रह्मकी उपासना महान् फलके लिए अभीष्ट है। प्राण एवं आकाशके समान ज्योति ब्रह्म है, ऐसा दिखलाने वाले स्ववाक्यमें ब्रह्मका बोधक अन्य कोई भी लिङ्ग नहीं है। पूर्ववाक्यमें भी चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदं०' (वह सब भूत गायत्री ही हैं) इसप्रकार छन्दका निर्देश है। यदि पूर्व वाक्यमें किसी प्रकार ब्रह्म निर्दिष्ट है ऐसा मान भी लें तो भी यहाँ उसका प्रत्यभिज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसमें 'त्रिपादस्य०' (इसके तीन पाद अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित हैं) इसप्रकार द्युलोक आधाररूपसे श्रुत है। और यहाँ तो 'परो दिवो०' (ज्योति द्युलोकसे परे है) द्युलोक मर्यादारूपसे सुना जाता है। इसलिए

सत्यानन्दी-दीपिका

* उपासना प्रायः अध्यारोप मूलक होती है और अध्यारोपका हेतु सादृश्य है। जैसे भूः इस व्याहृतिमें प्रजापतिके शिरकी दृष्टिका विधान है, वैसे कुक्षिस्थ ज्योतिः (जठराग्नि) में आदित्यादि परज्योतिका अध्यारोप कर उसकी उपासनाका विधान है अर्थात् जठराग्नि आदित्यादि ज्योति है, ऐसा मानकर जठराग्निकी आदित्यरूपसे उपासना करनी चाहिए, क्योंकि दोनोंमें जड़त्व, तेजस्त्व समान है। ब्रह्म तो शब्दादि रहित है, अतः जठराग्नि ब्रह्म नहीं है।

* पूर्वपक्षी—'तदेतद्दृष्टं च' आदिसे दूसरेका उल्लेख करते हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस प्रकार ब्रह्मोपासनाका तो मोक्षरूप महान् फल कहा गया है। अल्प और महान् फलके भेदसे भी

मित्येवं * प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम् । कुतः ? चरणाभिधानात् । पादाभिधाना-दित्यर्थः । पूर्वस्मिन्हि वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्मनिर्दिष्टम्—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्यनेन मन्त्रेण । तत्रयच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसंबन्धिरूपं निर्दिष्टं, तदेवेह द्युसंबन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते । तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् । न केवलं ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तम्–'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि

प्राकृत (कार्य) ज्योतिका यहाँ ग्रहण करना चाहिए । ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—इस श्रुतिमें 'ज्योतिः' शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, किससे ? इससे कि चरणका अभिधान है—पादका अभिधान है, ऐसा अर्थ है 'तावानस्य०' (उतनी इस-गायत्र्याख्य ब्रह्मकी महिमा है अर्थात् सारा जगत् इसकी विभूति है, तथा निर्विकार पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है, सभी भूत इसका एकपाद (एक अंश) हैं और इसका (पुरुष संज्ञक) त्रिपाद् अमृत प्रकाशरूप स्वात्मामें स्थित हैं) इस मन्त्रसे पूर्ववाक्यमें चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्ट है । उसमें चतुष्पाद् ब्रह्मके जो त्रिपाद् अमृत द्युसम्बन्धिरूप निर्दिष्ट है वही द्युलोकके सम्बन्धसे यहाँ निर्दिष्ट है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । उसका परित्यागकर प्राकृत ज्योतिकी कल्पना करनेवालेको प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रिया प्रसक्त होगी । ज्योति वाक्यमें केवल पूर्व-वाक्यसे ही ब्रह्मकी अनुवृत्ति हो यह बात नहीं है, किन्तु आगे कही जानेवाली शाण्डिल्यविद्यामें भी ब्रह्मकी अनुवृत्ति है, इसकारण यहाँ (मध्यमें) भी ज्योति ब्रह्म ही है ऐसा समझना चाहिए । जो

सत्यानन्दी-दीपिका

ज्योति ब्रह्म नहीं है । 'परो दिवो ज्योतिः' इस ज्योति वाक्यमें 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) (सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद है और इसका त्रिपाद् अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित है) इस पूर्व वाक्यमें भी चतुष्पाद् ब्रह्मका निर्देश नहीं है, किन्तु 'गायत्री वा०' (छा० ३।१२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें सर्वात्मकरूपसे गायत्री छन्दका निर्देश है । तथा 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' (वह यह गायत्री चार पादवाली और छः प्रकारकी है) चतुष्पाद् भी गायत्री छन्द ही कहा गया है । यदि छन्दद्वारा ब्रह्मका ग्रहण करें तो भी 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' यहां अधिकरणार्थक सप्तमी है और 'परो दिवो ज्योतिः' इस अन्य श्रुतिमें अवधि अर्थमें पञ्चमी है । इसप्रकार विभक्ति भेदसे भी ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञामें समान विभक्तिकी अपेक्षा होती है । जैसे 'तदेवेदम्' 'सोऽयम्' इत्यादि, वह यहाँ नहीं है, इसलिए ज्योतिः शब्दसे आदित्यादि कार्य ज्योतिका ग्रहण करना युक्त है ।

* यहाँ ज्योतिःशब्दसे ब्रह्म ही ग्राह्य है, क्योंकि ब्रह्मको चतुष्पाद् कहा गया है । इस विषयमें 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०।४२) (मैं इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंशसे व्याप्तकर स्थित हूँ) यह स्मृति प्रमाण भी है । इस बातको स्पष्ट करनेके लिए भगवान् भाष्य-कार 'न केवलम्' इत्यादिसे संदंश न्यायका आश्रयण करते हैं । संदंश (संडसी) से किसी वस्तुके दो भाग गृहीत होते हैं, मध्यभाग उसके साथ सम्बधित न होनेपर भी अन्य भागोंके साथ गृहीत हो जाता है । इसीप्रकार किसी पदार्थके पूर्वोत्तर भागका ग्रहण करनेसे मध्यभागके ग्रहणकी जहाँ विवक्षा हो वहां यह न्याय प्रवृत्त होता है । जब 'तावानस्य महिमा' इस पूर्व वाक्य और शाण्डिल्य विद्यामें पठित 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस उत्तर वाक्यमें ब्रह्मकी अनुवृत्ति है तो 'यदतः परो दिवो' इस मध्य वाक्यमें भी ज्योतिः शब्दसे अनुवृत्त ब्रह्मका ग्रहण ही युक्त है, अन्यथा उक्त दोषकी प्रसक्ति होगी। इसलिए यहां ज्योति ब्रह्म ही है ।

प्रसिद्धाविति। नायं दोषः; प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात्। दीप्यमान-कार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसंभवात्। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति च मन्त्रवर्णात्। यद्वा—नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते; अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्। 'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।५), 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० ब्रा० १।६।३।३) इति च। तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते। तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः। 'तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कौ० २।५।१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपा-सतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। यदप्युक्तं-द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति। अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। ननूक्तं निष्प्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति। नायं दोषः; निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः। तथा हि—आदित्ये, चक्षुषि, हृदये, इति प्रदेशविशेषसंबन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते। एतेन 'विश्वतःपृष्ठेषु'

यह कहा गया है कि 'ज्योतिः और दीप्यते' ये शब्द कार्य ज्योतिमें प्रसिद्ध हैं, यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरणसे ब्रह्मका ज्ञान होनेपर ये दोनों शब्द ब्रह्मके व्यावर्तक न होनेके कारण प्रकाश्यमान कार्य ज्योतिसे उपलक्षित ब्रह्ममें भी उन दोनों शब्दोंका प्रयोग संभव है, कारण कि इसमें 'येन सूर्यस्तपति०' (जिस तेजोमय चैतन्य आत्मासे दीप्त-प्राकशित सूर्य तपता-जगत्को प्रकाश करता है) यह मन्त्र है। अथवा यह ज्योतिः शब्द चक्षु वृत्तिके अनुग्राहक तेजमें रूढ नहीं है, क्योंकि 'वाचैवायं०' (वाणीरूप ज्योतिसे ही यह पुरुष गाढ अन्धकारमें स्वव्यापार करता है) 'मनो ज्योति०' (घी सेवन करनेवालोंका मन प्रकाशक होता है) इस प्रकार अन्य अर्थोंमें भी ज्योतिः शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। इस-लिए जो जो किसी वस्तुका प्रकाशक है उस उसका ज्योतिः शब्दसे अभिधान होता है। ऐसा होनेपर सम्पूर्ण जगत्के प्रकाशका हेतु होनेसे चैतन्यरूप ब्रह्ममें भी 'तमेव भान्तम०' (उस ब्रह्मके प्रकाशमान होनेपर ही सभी प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे ये सब आदित्यादि प्रकाशित होते हैं) और 'तद्देवा० (चन्द्रादि देवगण उस पूर्ण ब्रह्मकी ज्योतियोंके ज्योतिरूपसे, आयुरूपसे एवं अमृतरूपसे उपासना करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे ज्योतिः शब्दका प्रयोग युक्त है। जो यह कहा गया है कि सर्वगत ब्रह्मको द्युलोक तक सीमित करना युक्त नहीं है। इसपर कहते हैं—उपासनाके लिए सर्वगत ब्रह्ममें भी प्रदेश विशेषका परिग्रह विरुद्ध नहीं है। परन्तु जो यह कहा गया है कि प्रदेश रहित ब्रह्ममें भी प्रदेश विशेषकी कल्पना युक्त नहीं है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रदेश रहित ब्रह्ममें भी उपाधि विशेषके सम्बन्धसे प्रदेश विशेषकी कल्पना हो सकती है। जैसे कि 'आदित्यमें, नेत्रमें, हृदयमें, इस प्रकार प्रदेश विशेष सम्बन्धी ब्रह्मकी उपासनाएँ सुनी जाती हैं। इससे 'विश्वतः पृष्ठेषु'

सत्यानन्दी-दीपिका

* ज्योतिः शब्द ब्रह्म विषयक है, इसको 'प्रकरणाद्' इत्यादिसे सिद्ध करते हैं कि ज्योतिः शब्द-का मुख्य अर्थ आदित्यादि कार्य ज्योति है, ब्रह्म तो लाक्षणिक अर्थ है। अब 'यद्वा' इत्यादिसे मुख्यार्थ कहते हैं—ज्योति शब्दका मुख्यार्थ ब्रह्म ही है, क्योंकि 'तमेव भान्तम' 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७) (यह तो आदित्यादि ज्योतियोंकी भी ज्योति और तमसे-अज्ञानान्धकारसे परे है ऐसा कहा जाता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें ज्योतिः शब्दसे ब्रह्म ही प्रतिपादित है। इसलिए ज्योतिः शब्दका मुख्यार्थ ब्रह्म ही है।

* 'तं यथा यथोपासते तथा तथा फलं भवति' (जिस-जिस गुण विशिष्ट उस परमेश्वरकी उपासना करता है उस उस रूपद्वारा ब्रह्म ही उपासनाके अनुसार फल देता है) यह श्रुति ब्रह्मको भी

इत्यधारबहुत्वमुपपादितम् । यदप्येतदुक्तं–औष्ण्यघोषाभ्यामनुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कार्यं ज्योतिरेव—इति, तदप्ययुक्तम्; परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तेः। 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं च भविष्यति ।॥ यदप्युक्तमल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति,—तदनुपपन्नम् । नहि इयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयं इयते नेति नियमहेतुरस्ति। यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसंबन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते, यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते– 'अन्नादो वसुदानो विदन्ते वसु य एवं वेद' (बृ० ४।४।२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु। यद्यपि न स्ववाक्ये किंचिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति, तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति । तदुक्तं सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति, ॥ कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयाच्छक्या प्रच्यावयितुम् ? नैष दोषः;

(विश्व-प्राणिवर्गके ऊपर) बहुत आधारोंका उपपादन हुआ समझना चाहिए । जो यह कहा गया है कि उष्णता और घोष (अन्तर्नाद) से अनुमित कुक्षिस्थ कार्य ज्योतिमें अध्यस्यमान होनेके कारण द्युलोकसे पर कार्य ज्योति ही है । वह भी अयुक्त है, क्योंकि नामादि प्रतीकोंके समान कुक्षिस्थ कार्य ज्योति भी परब्रह्मका प्रतीक हो सकता है । 'दृष्टं च श्रुतं' (वह दृष्ट और श्रुत है ऐसी उपासना करे) इस प्रकार प्रतीकद्वारा ब्रह्म दृष्ट और श्रुत हो जायेगा । जो यह कहा गया है कि अल्पफलके श्रवण (श्रुति) से ज्योति ब्रह्म नहीं है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इतने फलके लिए ब्रह्मका आश्रयण करना चाहिए इतने फलके लिए नहीं, इस नियममें कोई हेतु नहीं है । जहाँ सम्पूर्ण विशेषोंके सम्बन्धसे रहित परब्रह्मका आत्मरूपसे उपदेश किया जाता है, वहाँ एकरूप-तारतम्यसे रहित निरतिशय मोक्ष ही फल है, ऐसा अवगत होता है । और जहां गुणविशेषके सम्बन्धसे अथवा प्रतीकविशेषके सम्बन्धसे ब्रह्मका उपदेश किया जाता है वहाँ नाना प्रकारके उत्तम, मध्यम और कनिष्ट संसार विषयक फल 'अन्नादो०' (परमेश्वर जीवरूपसे अन्न खाता है अथवा देता है, अतः 'अन्नाद' है, कर्म फल अथवा धन देता है, अतः 'वसुदान' है । इन दोनों गुणोंसे जो परमेश्वरकी उपासना करता है वह पुरुष अन्न खानेवाला और धनवान् होता है) इत्यादि श्रुतियोंमें देखे जाते हैं । यद्यपि [यदतः परो] स्ववाक्यमें ज्योति विषयक कुछ भी ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, तो भी पूर्ववाक्यमें दृश्यमान ब्रह्मलिङ्गका ग्रहण करना चाहिए । इसलिए सूत्रकारने 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' ऐसा कहा है । परन्तु अन्य वाक्योंमें प्राप्त ब्रह्मके

सत्यानन्दी-दीपिका

अल्पफलका हेतु कहती है । ज्ञेय और उपास्य भेदसे ब्रह्मके दो रूप शास्त्रोंमें कहे गये हैं, निरुपाधिक ब्रह्म ज्ञेय है और सोपाधिक ब्रह्म उपास्य । ज्ञेय ब्रह्म एक है, अतः उसके ज्ञान (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) का मोक्ष फल भी एक ही है, उसमें अन्य फलोंके समान तारतम्य नहीं है । उपाधिके सम्बन्धसे वही निर्गुण ब्रह्म नानाकी तरह-सगुण सर्वज्ञ-सा होता है । 'अन्नादः, वसुदानः, सत्यकामः, सत्यसंकल्पः' इत्यादि गुणोंके सम्बन्धसे उसकी उपासना होती है । 'स यो वाचं ब्रह्मेत्युपासते' (छा० ७।२।२) (वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है) इत्यादि श्रुतियाँ प्रतीकोपासनाके उदाहरण हैं, इन श्रुतियोंमें प्रतीकोपासनाओंके तारतम्यसे भिन्न-भिन्न फल कहे गये हैं । इसलिए उपाधिभेदसे ब्रह्ममें अल्पफलकी श्रुति सर्वथा युक्त है । यद्यपि 'अथ यदतः परो' इस स्ववाक्यमें ज्योति ब्रह्म है, ऐसा कोई लिङ्ग नहीं है, तथापि 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः' (छा० ३।१२।६) इस पूर्ववाक्यमें 'उसका एक पाद सम्पूर्ण भूत हैं और तीन पाद अमृतरूप द्युमें हैं' इस प्रकार ब्रह्मका लिङ्ग उपलब्ध होता है, उसका ही यहाँ ग्रहण करना युक्त है । इसलिए सूत्रकारने 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस सूत्रका उल्लेख किया है ।

'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्थाज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥ २४ ॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—छन्दोऽभिधानात्, न, इति, चेत्, न, तथा, चेतोर्पणनिगदात्, तथा, हि, दर्शनम् ।

सूत्रार्थ—(छन्दोऽभिधानात्) 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इस श्रुतिमें छन्द—गायत्रीका अभिधान है; अतः गायत्री ही चतुष्पाद है, (न) ब्रह्म नहीं, (इति चेन्न) तो यह ठीक नहीं, क्योंकि (तथा) श्रुतिमें गायत्री छन्दद्वारा गायत्रीमें अनुगत ब्रह्ममें (चेतोर्पणनिगदात्) चित्तकी एकाग्रताका अभिधान है, अतः ब्रह्म ही चतुष्पाद कहा गया है । और (तथा हि दर्शनम्) उसी प्रकार 'एतं ह्येव' आदि स्थलोंमें भी विकारद्वारा ब्रह्मकी ही उपासना देखी गई है ।

अथ यदुक्तम्—पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' (छा० ३।१२।१) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वादिति, तत्परिहर्तव्यम्। कथं पुनश्छन्दोभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं ?, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम्। नैतदस्ति; 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेत-

---

सान्निध्यसे ज्योतिः श्रुति स्वविषयः (अपने अर्थ) से कैसे दूर की जा सकती है ? यह दोष नहीं है । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इस श्रुतिमें सबसे पहले पठित सर्वनाम 'यत्' शब्द अपनी सामर्थ्यसे ब्रह्मका परामर्श करता है, इसीसे द्युसम्बन्धसे पूर्ववाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मके प्रत्यभिज्ञायमान होनेपर ज्योतिः शब्द भी अर्थतः ब्रह्म विषयक हो सकता है । इसलिए यहाँ ज्योति ब्रह्म है ऐसा समझना चाहिए ॥ २४ ॥

परन्तु जो यह कहा गया है कि पूर्ववाक्यमें भी ब्रह्मका अभिधान नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा०'(यह सब-प्राणिवर्ग और यह जो कुछ भी है, वह सब गायत्री ही है) इसमें गायत्री नामक छन्दका अभिधान है, तो इसका परिहार करना चाहिए । जबकि 'तावानस्य महिमा' (इतनी इसकी महिमा है) इस ऋचामें चतुष्पाद् ब्रह्म दिखलाया गया है, तो छन्दके अभिधानसे ब्रह्म अभिहित नहीं है, यह कैसे कह सकते हो ? पू०—यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस प्रकार गायत्रीका उपक्रम कर उसीका भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, वाणी और प्राणके भेदोंसे व्याख्यानकर उसी व्याख्यातरूप गायत्रीके विषयमें 'सैषा चतुष्पदा०' (वह यह गायत्री छः छः अक्षरोंसे चतुष्पाद् और भूत, पृथ्वी आदि भेदसे छः प्रकारकी है, वह यह (गायत्र्याख्य ब्रह्म) इस ऋचासे प्रकाशित किया गया है कि

सत्यानन्दी-दीपिका

* प्रकरणसे ज्योतिः शब्द ब्रह्मपरक दिखलाकर अब सन्निधिसे भी दिखलाते हैं। परन्तु इससे पहले 'कथं पुनः' से पूर्व पक्षका अनुवाद करते हैं। सन्निधिसे श्रुति बलवती होती है, अतः 'यदतः परो' यहाँ ज्योतिः शब्दसे सूर्यादि कार्य ज्योतिका ग्रहण करना युक्त है । सि०—सर्वनाममें यह सामर्थ्य होती है कि वह अपनेसे पूर्वका परामर्श करे । इसलिए 'यदतः परो' इसमें पठित सर्वनाम 'यत्' पद अपनी सामर्थ्यसे ज्योतिः शब्दसे 'तावानस्य महिमा' इस पूर्व वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मका परामर्श करता है । इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट और सन्निहित ब्रह्मका ग्रहण होनेपर द्युलोकका सम्बन्ध तथा पूर्व वाक्यमें ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा आदि ब्रह्मके लिङ्ग सिद्ध होते हैं, इसलिए यहाँ ज्योतिः शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिए । पूर्वपक्षमें जठराग्निकी आदित्यादि कार्य ज्योतिरूपसे उपासना है और सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे, यह दोनोंमें अन्तर है ॥ २४ ॥

इचाभ्यनूक्तं तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात्? योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।५,६) इति ब्रह्मशब्दः, सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत्, नैष दोषः; 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति। नह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति। तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म, तदिह सर्वमित्युच्यते। यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति। कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० २।१।१४) इत्यत्र। तथान्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' (ऐ०आ० ३।२।३।१२) इति। तस्मादस्ति छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्। तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यत उपासनान्तरविधानाय। * अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते; संख्यासामान्यात्। यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैः, तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि छन्दोभि-

---

इसकी इतनी महिमा है) उदाहरण रूपसे दिया गया यह मन्त्र विना किसी कारणके चतुष्पाद् ब्रह्मका किस प्रकार अभिधान करेगा। उसी प्रकरणमें 'यद्वै तद्ब्रह्म०' इस श्रुतिमें जो ब्रह्म शब्द है, वह भी छन्दके प्रकरणमें पठित होनेसे छन्द विषयक ही है, क्योंकि 'य एतामेवं०' (जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद्—वेदरहस्यमय मधु विद्याको जानता है) इस श्रुतिमें ब्रह्मोपनिषद्को वेदोपनिषद् कहते हैं। इसलिए छन्दके अभिधानसे ब्रह्म प्रकृत नहीं है, सिद्धान्ती—ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' गायत्री नामक छन्द द्वारा उसमें अनुगत ब्रह्ममें चेतसोऽर्पणं—चित्तकी एकाग्रता 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस ब्राह्मण वाक्यसे कही गई है। वस्तुतः अक्षर मिलनात्मक गायत्री सर्वात्मक नहीं हो सकती। इसलिए गायत्री नामक विकारमें अनुगत जगत्का कारण जो ब्रह्म है वही यहाँ सर्व शब्दसे कहा जाता है, जैसेकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म ही है) इस श्रुतिमें है। कार्य कारणसे अनन्य है, यह 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें कहेंगे। इसी प्रकार 'एतं ह्येव०' (ऋग्वेदी उस महान् उक्थ (शस्त्र) रूप उपाधिमें अनुगत उसी परमात्माकी उपासना करते हैं अर्थात् उक्थकी परमात्मदृष्टिसे उपासना करते हैं, यजुर्वेदी-अध्वर्यु अग्निरूप उपाधिमें उसीकी उपासना करते हैं, सामवेदी महाव्रतरूप यागमें उसीकी उपासना करते हैं) इत्यादि अन्य स्थलोंमें भी कार्यद्वारा ब्रह्मकी उपासना देखी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्ववाक्य (पादोऽस्य) में छन्दका अभिधान होनेपर भी उसके द्वारा चतुष्पाद् ब्रह्म ही निर्दिष्ट है। अन्य उपासनाका विधान करनेके लिए ज्योति वाक्यमें भी उसीका परामर्श है। दूसरे एकदेशी कहते हैं—गायत्री शब्दसे साक्षात् ही ब्रह्म प्रतिपादित है, क्योंकि संख्याकी समानता है। जैसे गायत्री छः अक्षरोंवाले पादोंसे चतुष्पदा है, वैसे ही ब्रह्म भी चतुष्पाद् है। इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी छन्दका अभिधान करनेवाला

सत्यानन्दी-दीपिका

* अभी तक गायत्री शब्द अजहल्लक्षणा द्वारा ब्रह्मरूप अर्थका प्रतिपादक कहा गया है। अब भगवान् भाष्यकार 'अपर आह' से वृत्तिकारकी व्याख्याका अनुसरणकर गौणरूपसे गायत्रीरूप वाच्यार्थके ग्रहण किए विना ही गायत्रीशब्द ब्रह्मका प्रतिपादक कहते हैं। संख्याकी समानतामें एक श्रौत उदाहरण है 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छान्दो० ४।३।४) (वे ये दो ही संवर्ग हैं—देवोंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण) 'संग्रहण अथवा संग्रसन करनेसे वायु और मुख्य-

धायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात्प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा—'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४।३।८) इति। अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोभिधानम्। सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ॥२५॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः, च, एवम्।

सूत्रार्थ—(भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः) 'गायत्री वा इदं सर्वम्, इस श्रुतिमें भूत आदि पादोंका व्यपदेश ब्रह्ममें उपपन्न होता है, अतः गायत्रीशब्दसे गायत्रीमें अनुगत ब्रह्मका ही बोध होता है। (च) और (एवम्) 'विष्टभ्याऽहमिदम्' यह स्मृति भी ब्रह्ममें सर्वात्मता दिखलाती है।

*इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति, पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति। यतो भूतादीन्पादा-

---

शब्द संख्याकी समानतासे अन्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है, जैसे कि 'ते वा एते पञ्चान्य०' (ये वे [अग्नि आदि और वायु] पाँच [वागादिसे] अन्य हैं, तथा इनसे [वागादि और प्राण] ये पाँच अन्य हैं; इस प्रकार ये सब दस होते हैं ये दश कृत-कृतात्मक पासेसे उपलक्षित द्यूत हैं) ऐसा आरम्भ कर 'सैषा विराडन्नादी०' (वह यह अन्न भक्षक विराड् ही है) इस तरह कहा है। इस पक्षमें ब्रह्मका ही अभिधान है छन्दका अभिधान नहीं है। पूर्व वाक्यमें भी सर्वथा ब्रह्म ही प्रकृत है ॥ २५ ॥

इस कारणसे भी पूर्ववाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है यह स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि श्रुति भूत आदि पादोंका व्यपदेश करती है। भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदयका निर्देशकर श्रुति 'सैषा चतुष्पदा०'

सत्यानन्दी-दीपिका

प्राणको संवर्ग कहा गया है। देवताओंमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल ये वायुमें लीन होते हैं, अतः यह अधिदैव संवर्ग है और शरीरमें वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन मुख्य प्राणमें लीन होते हैं यह अध्यात्म संवर्ग है! 'ते वा एते पञ्चान्ये' (वे ये अन्य पाँच आधिदैवत और अन्य पाँच आध्यात्मिक ये सब मिलकर 'दश' कृत कहलाते हैं)। वस्तुतः द्यूत क्रीड़ामें कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नामके चार पासे होते हैं, वे क्रमशः चार, तीन, दो और एक अंकके होते हैं। कृत–४, त्रेता–३, द्वापर–२ और कलि–१। इस चार संख्यासे युक्त कृत दश संख्याका होता है; क्योंकि चारमें तीनका, तीनमें दोका और दोमें एकका अन्तर्भाव होनेसे दस होते हैं। वायु आदि भी दस हैं। इस प्रकार संख्याकी समानतासे कृतत्वका उपचार है। इसप्रकार वायु आदिके कृतत्वका उपक्रमकर कहते हैं 'सैषा०' इत्यादि। यह विराड् शब्द छन्दका वाचक है, क्योंकि 'दशाक्षरा विराड्' (दस अक्षरों वाला छन्द विराड् होता है) ऐसी श्रुति है। दशत्वकी समानतासे वायु आदि विराड् कहलाते हैं। इसप्रकार दशत्वद्वारा वायु आदिमें कृतत्व और विराड्त्वका ध्यान करना चाहिए। उनमें विराड्के ध्यानसे उपासकके लिए सब अन्न होते हैं, क्योंकि 'अन्नं विराड्' यह श्रुति है। और वायु आदिमें कृतत्वके ध्यानसे अन्न भक्षक होता है, कारण कि कृत-द्यूत अन्नभक्षक है। कृत अपने चार अङ्कोंमें शेष तीन अङ्कोंका अपनेमें अन्तर्भाव करता है, अतः अन्नभक्षक-सा ज्ञात होता है। इसी कारण श्रुतिमें कृत–पासेकी जीतसे शेष अन्य पासे जीते जाते हैं इससे कृतद्यूतको भक्षक कहा गया है। इस तरह वायु आदि दशात्मक होकर कृतनामक विराड् अन्न है और कृतत्वके कारण अन्नभक्षक कहलाता है। इसी प्रकार इस पक्षमें भी चतुष्पाद् संख्याकी समानताको लेकर ब्रह्मका ही प्रतिपादन है छन्दका नहीं। सर्वप्रकारसे लक्षक अथवा गौणरूप से 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस पूर्ववाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है, छन्द नहीं। वस्तुतः यह वृत्तिकारका मत ठीक नहीं है, क्योंकि 'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपदा भवति' अर्थात् गायत्री २४ अक्षर और तीन पाद वाली होती है, अतः इसका चतुष्पाद ब्रह्मके साथ साक्षात् संख्याके द्वारा सादृश्य नहीं है ॥ २५ ॥

न्व्यपदिशति श्रुतिः। भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्या—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति। नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते। अपि च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक् संबध्येत—'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते। स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी० १४२) इति। * 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।८) इति च निर्देशः। एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते। 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ०।१३।६) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसंबन्धितायां विवक्षितायां संभवति। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम्। तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥२६॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

पदच्छेद—उपदेशभेदात्, न, इति, चेत्, न, उभयस्मिन्, अपि, अविरोधात्।

सूत्रार्थ—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' और 'यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते' इसप्रकार (उपदेशभेदात्) उपदेशके भेदसे (न) प्रकृत ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, (इतिचेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि (उभयस्मिन्नपि) दोनों वाक्योंमें भी (अविरोधात्) प्रत्यभिज्ञाका विरोध नहीं है।

(वह यह गायत्री चार पादवाली और छः प्रकार की है) ऐसा कहती है। यदि ब्रह्मका ग्रहण न करें, तो भूत आदि केवल छन्दके पाद उपपन्न नहीं होते। किञ्च ब्रह्मका ग्रहण न करें तो 'तावानस्य-महिमा०' (उतनी ही इस [गायत्र्याख्य ब्रह्म] की महिमा है) यह ऋचा समन्वित नहीं हो सकती। वस्तुतः इस ऋचाद्वारा मुख्यरूपसे ब्रह्मका ही अभिधान होता है, क्योंकि 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि०' इस प्रकार सर्वात्मता उपपन्न होती है। पुरुष सूक्तमें भी यह ऋचा ब्रह्मपरत्वसे ही अभिहित है। 'विष्टभ्याहमिदं०' (एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके मैं स्थित हूँ) यह स्मृति भी ब्रह्ममें सर्वात्मता दिखलाती है। पूर्ववाक्यमें ब्रह्मके स्वीकार करनेसे ही 'यद्वै तद्ब्रह्म' (जो भी वह [त्रिपाद् अमृतरूप] ब्रह्म है वह यही है) यह श्रुतनिर्देश मुख्यार्थमें उपपन्न होता है। 'ते वा एते०' (वे ये पाँच ब्रह्मपुरुष [स्वर्गलोकके द्वारपाल] हैं) और इसप्रकार हृदयके छिद्रोंमें ब्रह्मपुरुष प्रतिपादक यह श्रुति भी ब्रह्मके साथ सम्बन्धित है ऐसा विवक्षित होनेपर ही संगत होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्ववाक्यमें ब्रह्म प्रकृत है, और द्युसम्बन्धसे प्रत्यभिज्ञायमान उसी ब्रह्मका ज्योतिर्वाक्यमें परामर्श होता है ॥२६॥

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस वाक्यशेषमें सर्वात्मत्वका श्रवण अक्षरोंकी आनपूर्वीमिलनात्मक गायत्री छन्दमें कथंचिदपि सम्भव नहीं है, इसलिए गायत्रीमें अनुगत ब्रह्ममें लक्षणा अवश्य माननी चाहिए, इसी अर्थको भगवान् सूत्रकार भी 'भूतादिपाद' इस सूत्रसे दिखलाते हैं।

*ब्रह्मपद गायत्री छन्द वाची है यह जो पहले कहा गया है उसका 'यद्वैतद्ब्रह्म' इससे निराकरण करते हैं। गायत्री उपाधिवाले ब्रह्मके हृदयरूपी नगरमें प्राण आदि देवताओंसे सुरक्षित पाँच छिद्र हैं। स्वर्गप्राप्तिके द्वार होनेसे इन्हें देवसुषि कहते हैं अर्थात् हृदयरूपी नगरमें पूर्व; दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व इन पांच छिद्ररूपी द्वारोंमें प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान अथवा चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन और प्राण इन पाँच द्वारपालोंकी श्रुतिद्वारा कल्पना की गई है। किञ्च हृदयरूपी नगरमें गायत्री उपाधिवाले ब्रह्मकी उपासनाके लिए ब्रह्मके द्वारपाल होनेसे प्राण आदि अथवा चक्षु आदि ब्रह्मपुरुष कहलाते हैं, इससे 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' यह श्रुति भी संगत होती है। वर्णोंकी मिलनात्मक छन्दरूप गायत्रीमें हृदयस्थ प्राण आदि पाँच ब्रह्मपुरुषोंका सम्बन्ध नहीं घट सकता है। इन पाँच ब्रह्मपुरुषोंकी उपासना तथा फल (छा० ३।१३।१, २, ३, ४, ५) में द्रष्टव्य है ॥ २६ ॥

* यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा; इह पुनः 'अथ यदतः परो दिवः, इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः; उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते । यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च । एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते । अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च । एवं च दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम् । अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥२७॥

(११ प्रतर्दनाधिकरणम् । सू० २८-३१)

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

पदच्छेद—प्राणः, तथा, अनुगमात् ।

सूत्रार्थ—(प्राणः) 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इस श्रुतिमें पठित प्राण परमात्मा ही है, वायु नहीं, क्योंकि (तथा) पूर्वापर वाक्योंका पर्यालोचन करनेपर (अनुगमात्) उक्त श्रुतिवाक्यमें आनन्द आदि पदोंका समन्वय ब्रह्मपरक ही उपलब्ध होता है ।

यह जो कहा गया है कि 'त्रिपादस्या०' इस श्रुति वाक्यमें सप्तमी विभक्ति द्वारा 'द्यु' आधार-रूपसे उपदिष्ट है और 'अथ यदतः परो०' इस श्रुतिवाक्यमें पंचमी विभक्ति द्वारा 'द्यु' मर्यादारूपसे उपदिष्ट है, अतः उपदेशके भेदसे उसका (ब्रह्मका) यहां प्रत्यभिज्ञान नहीं है, उसका परिहार करना चाहिए । इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है । क्योंकि दोनों वाक्योंमें विरोध नहीं है । दोनोंमें भी सप्तम्यन्त और पंचम्यन्त उपदेशोंमें भी प्रत्यभिज्ञानका विरोध नहीं है । जैसे लोकमें वृक्षके अग्र-भागसे सम्बद्ध श्येन (बाजपक्षी) 'वृक्षके अग्रभागमें श्येन है' 'वृक्षके अग्रभागसे परे श्येन है' इस तरह दोनों प्रकारसे उपदेश किया हुआ देखा जाता है । वैसे ही 'द्यु में ही होता हुआ ब्रह्म द्युसे परे है' ऐसा उपदेश किया जाता है । दूसरे कहते हैं—जैसे लोकमें वृक्षके अग्रभागसे श्येनका सम्बन्ध न होनेपर भी 'वृक्षके अग्रभागपर श्येन है' 'वृक्षके अग्रभागसे परे श्येन है' इसतरह दोनों प्रकारसे उपदेश किया हुआ देखा जाता है । इसीप्रकार द्युसे परे भी होता हुआ ब्रह्म 'द्युमें' ऐसा उपदेश किया जाता है । इसलिए पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका यहां प्रत्यभिज्ञान है । इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्योतिः शब्द परब्रह्मका ही वाचक है ॥ २७ ॥

सत्यानन्दी-दीपिका

* विभक्तिके भेदसे कथित अर्थ भेद युक्त नहीं है, क्योंकि जो आधार होता है वह कथंचित् मर्यादा भी हो सकता है । जैसे वृक्षके अग्रभागमें श्येनके पाद आदि जितने अवयव संयुक्त रहते हैं उतने अवयवोंका वह आधार होता हुआ ही उससे-पक्ष आदि से असंयुक्त अवयवोंको लेकर श्येनकी मर्यादा होता है । उसीप्रकार द्यु, सूर्य अथवा हृदयाकाशरूप मुख्य आधारमें ब्रह्म है, उस आधारसे भिन्न आकाशावच्छिन्न ब्रह्मका वह आधार (मर्यादा) होता है, इसप्रकारकी कल्पनाकर 'ब्रह्म द्युसे परे है' ऐसा कहा गया है । अब 'अपर आह' इत्यादि भाष्यसे मर्यादाको मुख्य मानकर कहते हैं अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्मको लेकर पंचमीका मुख्यार्थ कहें तो यहां 'दिवि' में सप्तमीका अर्थ लक्षणासे सामीप्य होगा । 'गङ्गायां घोषः' जैसे यहाँ गंगापदसे संयुक्त सप्तमीका अर्थ लक्षणासे सामीप्य होता है, उसीप्रकार 'दिवि' यहां लक्षणासे सामीप्य अर्थको लेकर आधार कहना होगा और पंचमीका अर्थ

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरि-
* अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका— तस्यां श्रूयते— 'स होवाच
न्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता । तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं
प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति । तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'
शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।१,२,३) इति । अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।८) इत्यादि । * तत्र
इति ।
संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयते, उत देवतात्मा, उत जीवः, अथवा परं
ब्रह्मेति । ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम् । इहापि च ब्रह्मलिङ्ग-
मस्ति— आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि । कथमिह पुनः संशयः संभवति ? अनेकलिङ्गदर्शना-

---

'प्रतर्दनो ह वै०' (दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रमसे इन्द्रके प्रियधाम-स्वर्गको गया) इसप्रकार आरम्भकर कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्में इन्द्र और प्रतर्दनकी आख्यायिका कही गई है। उसमें 'स होवाच प्राणोऽस्मि०' (उस इन्द्रने कहा—मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, उस मेरी आयु तथा अमृतरूपसे उपासनाकर) ऐसा श्रुति कहती है । उसीप्रकार आगे भी 'अथ खलु प्राण एव०' (वाग् आदि इन्द्रियोंकी शरीर धारण करनेमें सामर्थ्य नहीं है ऐसा निश्चय होनेके अनन्तर निश्चय प्रज्ञात्मा प्राण ही इस देहको अहंता-ममतासे स्वीकारकर शयन, आसन आदिसे उठाता है) उसीप्रकार आगे भी 'न वाचं०' (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे वक्ताको जाने) इत्यादि श्रुति है । और अन्तमें 'स एष प्राण एव०' (वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) इत्यादि श्रुति है। यहाँ यह संशय होता है क्या यहाँ प्राणशब्दसे वायु मात्र अभिहित है अथवा देवतात्मा अथवा जीव अथवा परब्रह्म ? परन्तु 'अत एव प्राणः' इस सूत्रमें तो प्राणशब्द ब्रह्मपरक है, ऐसा वर्णन किया जा चुका है और यहाँ भी 'आनन्द, अजर और अमृत हैं' इत्यादि ब्रह्मके लिङ्ग हैं, तो फिर यहाँ संशय ही कैसा हो सकता है ? अनेक लिङ्गोंके दर्शनसे यहाँ संशय हो सकता है, ऐसा हम कहते

सत्यानन्दी-दीपिका

मर्यादा, इस तरहसे दोनों वाक्य ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि आधार और मर्यादा दोनों औपाधिक होनेसे ब्रह्ममें कल्पित हैं, अतः ज्योति वाक्यमें ज्योतिः शब्द भी ब्रह्मका ही वाचक है ॥२७॥

* राजा प्रतर्दन बुद्धिकौशल आदिसे स्वर्गमें पहुँचा । प्रतर्दनका युद्धकौशल और बुद्धि-कौशल देखकर इन्द्रने कहा, हे प्रतर्दन ! मैं तुमपर अतिप्रसन्न हूँ तुम मुझसे अभीष्ट वर माँगो। प्रतर्दन बोला—हे देवराज इन्द्र ! मनुष्यके लिए सबसे अधिक हितकारक जो वर हो वही दीजिए। इसपर इन्द्रने 'प्राणोऽस्मि' 'मैं प्राण हूँ' इत्यादि कहा । इन्द्रके इस कथनपर अब विचारणीय यह है कि इस श्रुतिवाक्यमें पठित प्राणशब्दसे कहीं मुख्य प्राणका ग्रहण न हो, अतः यहाँ 'प्रज्ञात्मा' कहा गया है । सर्व विशेष रहित चेतन ब्रह्मका ग्रहण न हो इसलिए 'तं मां' पद कहे गए हैं । इन पदोंसे यहाँ प्राणशब्दसे इन्द्र देवताका ही ग्रहण होता है । परन्तु आगे 'अथ खलु प्राण एव' इस-प्रकार मुख्यप्राणका लिङ्ग भी है । इसीप्रकार 'न वाचं' इस वाक्यमें प्राणशब्दसे जीवका ग्रहण होता है, क्योंकि उसमें वक्तृत्वलिङ्ग विद्यमान है । और आगे 'स एष प्राण एव' इस श्रुतिवाक्यसे प्राणमें आनन्द आदि ब्रह्म बोधक लिङ्ग उपलब्ध होते हैं, इससे प्राणशब्दसे ब्रह्मका भी ग्रहण हो सकता है। इसप्रकार मुख्यप्राण, जीव, देवता और ब्रह्म बोधक लिङ्गोंके विद्यमान होनेपर निश्चय करनेके लिए सूत्रकारने इस अधिकरणका आरम्भ किया है ।

* 'प्राणोऽस्मि' इससे लेकर 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' यहाँ तक वाक्य समुदाय इस अधिकरण सूत्रके विषय हैं अर्थात् इन वाक्योंको लेकर ही यहाँ विचार किया गया है । गत अधिकरणमें प्रकृत ब्रह्मवाचक 'यत्' शब्दके बलसे ज्योतिः श्रुति ब्रह्मपरक कही गई, परन्तु यहाँ प्राण श्रुतिके भङ्गमें कोई

दिति ब्रूमः। न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते, सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि—'मामेव विजानीहि' (कौ० ३।१) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम्। 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती'ति प्राणलिङ्गम्। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम्। अत उपपन्नः संशयः। तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्त उच्यते—प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्। कुतः? तथाऽनुगमात्। तथा हि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते। उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति। तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्? नह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति। 'तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वेता० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते। ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इत्याद्यासु श्रुतिषु। प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते। नह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं संभवति। तथोपसंहारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीया-

---

हैं। यहाँ केवल ब्रह्मका लिङ्ग ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्यके लिङ्ग भी हैं। जैसे कि 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) यह इन्द्रका वचन देवतात्माका लिङ्ग है। 'इदं शरीरं०' (इस शरीरको पकड़कर उठाता है) यह मुख्य प्राणका लिङ्ग है। 'न वाचं०' (वाणीके जाननेकी इच्छा न करे वक्ताको जाने) इत्यादि जीवका लिङ्ग है। अतः संशय होना युक्त है। संशय होनेपर प्राणशब्दकी वायु विकार रूप मुख्य प्राणमें प्रसिद्धि होनेके कारण यहाँ प्राणशब्दसे मुख्य प्राणका ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—प्राणशब्द ब्रह्मका वाचक समझना चाहिए। क्योंकि श्रुतिसे ऐसा ही अनुगम-अवगम होता है। जैसे कि पूर्वापर वाक्यका पर्यालोचन करनेपर पदार्थोंका समन्वय ब्रह्म प्रतिपादन विषयक उपलब्ध होता है। आरम्भमें तो 'वरं वृणीष्व०' (वर माँग) इस प्रकार इन्द्रके कहनेपर प्रतर्दनने परम पुरुषार्थरूप वर माँगा 'त्वमेव मे वृणीष्व' (आप स्वयं ही विचारकर मुझे वह वर दें, जिसे आप मनुष्यके लिए सबसे बढ़कर हितकर समझते हों) उस (प्रतर्दन) के लिए सबसे बढ़कर हिततमरूपसे उपदिष्ट हुआ प्राण परमात्मा क्यों न हो! परमात्माके ज्ञानके सिवा अन्य साधनोंसे हिततमकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि 'तमेव०' (उस-परमात्माको ही जानकर पुरुष ज़न्म मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है, उसको प्राप्त करनेके लिए परमात्माके ज्ञानसे भिन्न दूसरा और कोई उपाय नहीं है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। इसी प्रकार 'स यो मां वेद०' (वह जो कोई विद्वान् मुझ (ब्रह्म) को साक्षात् अनुभव करता है उसका मोक्ष रूप लोक किसी भी कर्मसे, स्तेय (चोरी) अथवा भ्रूणहत्यासे नष्ट नहीं होता) इत्यादि श्रुति वाक्य ब्रह्मका ग्रहण करनेसे ही संगत होते हैं। क्योंकि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि०' (उस परात् पर ब्रह्मका ज्ञान होनेपर इस विद्वान्के सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मविज्ञानसे ही सब कर्मोंका क्षय प्रसिद्ध है। और प्रज्ञात्मत्व (जीवत्व) भी ब्रह्मपक्षमें ही उपपन्न होता है, अचेतन वायु प्रज्ञात्मा नहीं हो सकता है। उसी प्रकार उपसंहारमें भी 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' ऐसे आनन्दत्व आदि ब्रह्मसे भिन्न अन्यमें अच्छी तरह सम्भव नहीं हैं। 'स न साधुना०' (वह पुण्य कर्मोंसे महान् नहीं होता और पाप कर्मोंसे घटता

सत्यानन्दी-दीपिका

बल नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अनेक लिङ्ग कुछ निश्चय करनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः प्रत्युदाहरण-संगतिसे 'तत्र' आदिसे पूर्वपक्षका उत्थान करते हैं।

नेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति 'एष लोकाधिपतिरेष लोकपाल एष लोकेशः' (कौ० ३।८) इति च । सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे । तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥२८॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—न, वक्तुः, आत्मोपदेशात्, इति, चेत्, अध्यात्मसम्बन्धभूमा, हि, अस्मिन् ।

सूत्रार्थ—ऐसा यदि कहो कि (वक्तुः) वक्ता इन्द्रने (आत्मोपदेशात्) 'मामेव विजानीहि' इससे अपने आत्माका उपदेश किया है, अतः 'प्राणोऽस्मि' यहाँ प्राणशब्द परब्रह्मवाचक नहीं है, (इति चेत्) ऐसा यदि कहो तो (अस्मिन्) इस अध्यायमें (अध्यात्मसम्बन्धभूमा) 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' इस प्रकार प्रत्यगात्मसम्बन्धका बाहुल्य उपलब्ध होता है (हि) इसलिए यह ब्रह्मका ही उपदेश है, देवताविशेषका नहीं ।

यदुक्तम्—प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते । न परं ब्रह्म प्राणशब्दम् । कस्मात् ? वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता ह्यीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे—'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन । स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात् ? नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं संभवति, 'अवागमनाः' (बृह० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा विग्रहसंबन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसंभवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः । प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते । 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते । बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा । 'या च काचिद्बलप्रकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति हि वदन्ति । प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्मनः

नहीं, यही जिसको इन लोकोंसे ऊँचा ले जाना चाहता है उस पुरुषसे पुण्य कर्म कराता है और यही जिसको इन लोकोंसे नीचे ले जाना चाहता है उस पुरुषसे पापकर्म कराता है) और 'एष लोकाधिपति०' (यह लोकाधिपति है यह लोकपाल, यह लोकेश है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । ये सब [धर्म-अधर्मका कराना, सर्वेश्वरत्व आदि धर्म] पर ब्रह्मका आश्रयण करनेसे ही ठीक-ठीक अनुगत हो सकते हैं, वायुके विकार मुख्य प्राणका आश्रयण करनेसे नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राण ब्रह्म है अर्थात् प्राणशब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण सर्वथा युक्त है ॥ २८ ॥

प्राण ब्रह्म है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर पूर्वपक्षी आक्षेप करते हैं । प्राणशब्द परब्रह्मका वाचक नहीं है, क्योंकि वक्ता अपने आत्माका उपदेश करता है । और यहाँ वक्ता इन्द्र नामका कोई देहधारी एक देवताविशेष है, उसने 'मामेव०' (मुझको ही जानो) ऐसा आरम्भ कर 'प्राणोऽस्मि०' (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ) इस प्रकार अपने आत्माका ही अहङ्कार पूर्वक शब्दोंमें प्रतर्दनके लिए उपदेश किया है । वक्ताद्वारा आत्मरूपसे उपदेश किया हुआ वही प्राण ब्रह्म किस प्रकार हो सकता है । क्योंकि 'अवागमनाः' (वह वाणी और मनसे रहित है) इत्यादि श्रुतियोंसे भी यह दिखलाया गया है कि ब्रह्ममें वक्तृत्वका सम्भव ही नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्ममें सम्भव न होनेवाले शरीर सम्बन्धी धर्मोंद्वारा इन्द्रने 'त्रिशीर्षाणं०' (त्वष्टाके तीन शिरवाले विश्वनामक पुत्रको मैंने मारा, वेदान्तसे विमुख यतियोंको जंगलके कुत्तोंको खिला दिया) इत्यादि वचनोंसे अपनी स्तुति की है । बलवान् होनेसे इन्द्रमें प्राणत्व उपपन्न होता है, क्योंकि 'प्राणो वै बलम्' (प्राण ही बल है) ऐसा ज्ञात होता है और इन्द्र बलका प्रसिद्ध देवता है । (जो कोई भी बलका काम है वह इन्द्रका ही कर्म है) ऐसा

सत्यानन्दी-दीपिका

पूर्व पक्षमें प्राण, देवता अथवा जीवकी उपासना है और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना है । इतना दोनों पक्षोंमें अन्तर हैं ॥ २८ ॥

संभवति। अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति। निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासंभवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि। तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—'अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति। अध्यात्मसंबन्धः प्रत्यगात्मसंबन्धः, तस्य भूमा बाहुल्यम्, अस्मिन्नध्याये उपलभ्यते। 'यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोःस्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य। तथाऽस्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति। तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।३) इति, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहारारनाभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह.२।५।१९) इति च श्रुत्यन्तरम्। तस्मादध्यात्मसंबंधबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः॥२९॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः ?

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—शास्त्रदृष्ट्या, तु, उपदेशः, वामदेववत्।

सूत्रार्थ—(वामदेववत्) वामदेवके समान (शास्त्रदृष्ट्या) मैं परब्रह्म हूँ, इस शास्त्रदृष्टिसे (उपदेशः) 'मामेव विजानीहि' वक्ता इन्द्रका यह उपदेश प्रतर्दनके प्रति युक्त है, इसलिए 'प्राणोऽस्मि' यह प्राणशब्द ब्रह्मपरक है।

लोग कहते हैं। अप्रतिहत (अकुण्ठित) ज्ञानवाला होनेसे देवतात्मा भी प्रज्ञात्मा हो सकता है। देवता अप्रतिहत ज्ञानवाले होते हैं ऐसा [वेद और लोकमें] कहते हैं। इस प्रकार देवतात्माका उपदेश निश्चत होनेपर हिततमत्व आदि वचनोंकी यथासंभव उसीमें ही योजना करनी चाहिए। अतः वक्ता इन्द्रका आत्मोपदेश होनेसे प्राण ब्रह्म नहीं है, ऐसा आक्षेप कर 'अध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन्' इस सूत्र भागसे उसका समाधान करते हैं। अध्यात्मसम्बन्ध अर्थात् प्रत्यगात्मसम्बन्ध उसका बाहुल्य (अधिकता) इस अध्यायमें उपलब्ध होता है। 'यावद्ध्यस्मिन्०' (जब तक इस शरीरमें प्राण रहता है तब तक आयु है) यह श्रुति वाक्य प्रज्ञात्मा प्रत्यग्भूत प्राणमें ही आयु देने और हरनेकी स्वतन्त्रता दिखलाता है, बाह्यदेवताविशेषमें नहीं। उसी प्रकार 'अस्तित्वे०' (प्राणका अस्तित्व होनेसे ही इन्द्रियोंका निःश्रेयस है अर्थात् इस शरीरमें प्राणके विद्यमान होनेपर इन्द्रियोंकी स्थिति होती है) यह श्रुति वाक्य इन्दियोंका आश्रय अध्यात्म–प्रज्ञात्मा प्राणको ही दिखलाता है। तथा 'प्राण एव०' (प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहणकर उठाता है), इसप्रकार और 'न वाचं०' (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने) ऐसा आरम्भकर 'तद्यथा०' (जैसे रथके अरोंमें नेमि लगी रहती है और नाभिमें अर लगे रहते हैं, उसीप्रकार ये भूत और विषय ज्ञान और इन्द्रियोंसे जुड़े हुए हैं, ज्ञान और इन्द्रियाँ प्राणसे जुड़ी हुई हैं वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) इसप्रकार [यह श्रुति] विषय और इन्द्रियोंके व्यवहाररूप अरेके नाभिभूत प्रत्यगात्माका ही उपसंहार करती है। और '**स म आत्मेति०**' (वह मेरा आत्मा-स्वरूप है ऐसा जाने) यह उपसंहार प्रत्यगात्माका ग्रहण करनेपर ही संगत होता है, बाह्य देवताके ग्रहण करनेपर नहीं, 'अयमात्मा०' (यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है) इसप्रकार यह दूसरी श्रुति है। इससे यहाँ प्रत्यगात्माके सम्बन्धका बाहुल्य होनेके कारण ब्रह्मका ही यह उपदेश है न कि देवतात्माका उपदेश है॥ २९ ॥

तब वक्ताने अपने आत्माका उपदेश किस प्रकार किया है ?

*इन्द्रो नाम देवतात्मानं स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति। यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति, तद्वत्। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १।४।१०) इति श्रुतेः। यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—न तावत् त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः, यस्मादेवं कर्माहं तस्मान्मां विजानीहीति। कथं तर्हि? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसंदधाति *'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति। विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम्। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥३०॥

इन्द्र नामके देवताने आर्षदर्शनसे अपने आत्माको परमात्मारूपसे 'मैं ही परब्रह्म हूँ' इस तरहसे यथाशास्त्र जानकर, तदनुसार उसने 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) ऐसा उपदेश किया है। जैसे 'तद्धैतत्०' (उसे (ब्रह्मको) आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—मैं मनु हुआ और सूर्य भी) क्योंकि 'तद्यो यो०' (उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया) ऐसी श्रुति है। और 'मामेव०' (मुझको ही जान) ऐसा कहकर इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके हनन आदि देहधर्मोंसे अपनी स्तुति की ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार (समाधान) करना चाहिए। इस विषयमें कहते हैं कि त्वष्टाके पुत्रके बध आदिका उपन्यास 'मैं ऐसा पराक्रमी हूँ, अतः मेरा ज्ञान प्राप्त करो' यह विज्ञेय देहधारी इन्द्रकी स्तुतिके लिए नहीं है, तो किसके लिए है? विज्ञानकी स्तुतिके लिए है। क्योंकि त्वष्टापुत्रके बध आदिके साहसका उल्लेख कर विज्ञानकी स्तुतिका 'तस्य मे तत्र०' (वहाँ मुझ पराक्रमशालीका बाल भी बांका नहीं होता, जो मुझे जानता है उसका मोक्ष किसी भी कर्मसे नष्ट नहीं होता) इत्यादि उत्तरवाक्यसे अनुसन्धान करता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार हिंसात्मक क्रूर कर्म करनेपर भी ब्रह्मरूप होनेसे मेरा एक बाल भी नष्ट नहीं हुआ अर्थात् मेरी ब्रह्मरूपतामें बाल भर भी हानि नहीं हुई। वह जो कोई दूसरा भी इसी प्रकार मुझे ब्रह्मरूपसे जानता है अर्थात् अपनेको 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा अनुभव करता है उसका मोक्षरूप लोक किसी भी कर्मद्वारा नष्ट नहीं होता। अतः 'प्राणोऽस्मि०' (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ) इस प्रकारसे वर्णित विज्ञेय तो वक्ष्यमाण ब्रह्म है। इस कारण यह वाक्य ब्रह्म विषयक है ॥ ३० ॥

सत्यानन्दी-दीपिका

* गर्भस्थ ऋषि वामदेवने ज्ञान प्राप्त किया कि 'मैं ही मनु और सूर्य हुआ' यह आर्षज्ञान कहलाता है। पूर्व जन्ममें श्रुत वेदान्त महावाक्यार्थकी इस जन्ममें स्वतः सिद्ध आत्मज्ञानरूपसे अभिव्यक्ति ही आर्षदर्शन है।

* 'तस्य मे तत्र' इत्यादि स्तुति परक सब वाक्य ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं। साथ-साथ उनमें ब्रह्मज्ञानकी महिमा भी बताई गई है कि ब्रह्मज्ञान पाकर वह विद्वान् किसी भी पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होता। 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय' (गीता० ४।४१) (हे धनंजय! आत्मज्ञानीको शुभाशुभ कर्म नहीं बाँधते अर्थात् शुभाशुभ फल नहीं देते) क्योंकि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४।३७) (उसी प्रकार ज्ञान अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है) 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मवित् ब्रह्म ही है) अतः उसका नाश कर्म आदिसे नहीं हो सकता। इसलिए 'प्राणोऽस्मि' इत्यादि वाक्योंद्वारा ब्रह्म ही विज्ञेय है इन्द्र आदि देवता नहीं ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥

पदच्छेद—जीवमुख्यप्रणलिङ्गात्, न, इति, चेत्, न, उपासात्रैविध्यात्, आश्रितत्वात्, इह, तद्योगात् ।

सूत्रार्थ—(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) 'वक्तारं विद्यात्' इस श्रुतिमें जीवलिङ्ग और 'इदं शरीरं' इसमें मुख्यप्राणलिङ्गके होनेसे (न) 'प्राणोऽस्मि' इस वाक्यमें प्राणशब्दसे केवल ब्रह्मका ही बोध नहीं होता, अपितु जीव और मुख्यप्राणका भी बोध होता है । (इति चेत्, न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (उपासात्रैविध्यात्) क्योंकि ऐसा होनेसे तीन उपासनाएँ माननी पड़ेंगी । उपक्रम और उपसंहारसे एकवाक्यता अवगत होती है, (आश्रितत्वात्) और 'प्राण इति होवाच' इत्यादि स्थलोंमें ब्रह्मलिंग होनेके कारण प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म ही स्वीकार किया गया है । (इह) इस श्रुतिमें भी (तद्योगात्) हिततमत्व आदि ब्रह्मलिंगका योग है । इनसे भी प्राणशब्दसे यहाँ ब्रह्मका ही उपदेश ज्ञात होता है ।

*** यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति । कुतः ? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । जीवस्य तावदस्मिन्वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते** 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि । **अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते । तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि**- 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' **इति । शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः, प्राणसंवादे वागादीन्प्राणान्प्रकृत्य**—'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २।३) **इति श्रवणात् । ते तु** 'इमं शरीरं परिगृह्य' **इति पठन्ति,** 'तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य' **शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम् ।**

यद्यपि अध्यातमसम्बन्धकी अधिकता दिखाई देनेसे बाह्य देवतात्माका उपदेश नहीं है, तो भी यह प्राणवाक्य केवल ब्रह्मविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ जीवलिङ्ग और मुख्यप्राणके लिङ्ग उपलब्ध होते हैं । **'न वाचं०'** (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे वक्ताको जाने) इत्यादि वाक्यमें जीवका लिंग तो स्पष्ट उपलब्ध होता है; क्योंकि यहाँ वाणी आदि इन्द्रियोंसे व्यापार करने वाला, शरीर और इन्द्रियोंका अध्यक्ष-स्वामी जीव विज्ञेयरूपसे अभिहित है । इसीप्रकार 'अथ खलु प्राण एव' (निश्चय प्राण ही प्रज्ञातमा इस शरीरको ग्रहणकर उठाता है) इस वाक्यमें मुख्य प्राणका भी लिंग (ज्ञापन) है । क्योंकि शरीर धारण करना मुख्य प्राणका धर्म है, प्राणसंवादमें वाणी आदि प्राणों-इन्द्रियोंको प्रस्तुतकर **'तान्वरिष्ठ प्राणः उवाच०'** (उनमेंसे अत्यन्त श्रेष्ठ प्राणने उन इन्द्रियोंसे कहा तुम मोह-अभिमानको मत प्राप्त हो, क्योंकि मैं ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्तकर इस शरीर-को आलम्बन देकर धारण करता हूँ) ऐसी श्रुति है । और जो कोई 'इदं शरीरं' इस 'इदं' के स्थानमें 'इमं शरीरं' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं, उनके मतमें इस जीव, अथवा इन्द्रिय समूहका ग्रहणकर शरीरको उठाता है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । चेतन होनेके कारण जीवमें प्रज्ञात्मत्व भी युक्त है ।

सत्यानन्दी-दीपिका

* प्रश्नोपनिषद्में मुख्य प्राण और चक्षु आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंका संवाद है—एक समय वे सब अपनी-अपनी महिमाको प्रकट करते हुए कहने लगे कि हम ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करते हैं, तब उनसे सर्वश्रेष्ठ मुख्यप्राणने कहा—अविवेकके कारण तुम मिथ्या अभिमान मत करो, क्योंकि अपने प्राण, अपान आदि पाँचवृत्ति भेदकर मैं ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ । प्राणके इस कथनपर उन सबने विश्वास नहीं किया । तब प्राण उनके अभिमान निवृत्त्यर्थं ऊपरको निकलने लगा, उसके ऊपर उठनेके साथ शेष सभी खिंचने लगे, तथा उसके

प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम् । मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव । जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः, स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथापि निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति । ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत ? तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्—✽ नैतदेवम्; उपासात्रैविध्यात् । एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत—जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं, ब्रह्मोपासनं चेति । न चैतदेकस्मिन्वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते । 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वा, अन्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते । तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम् । न च ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम् । दशानां भूतमात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः आश्रितत्वाच्चान्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तेः । इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते । यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति—तदसत्; प्राणव्यापार-

---

प्रज्ञा (ज्ञान) के साधनभूत अन्य इन्द्रियोंका आश्रय होनेसे मुख्यप्राणमें भी प्रज्ञात्मत्व उपपन्न ही है । यदि प्राणशब्दका अर्थ जीव और मुख्यप्राण दोनों मानें तो प्राण और प्रज्ञात्माका एक ही शरीरमें साथ रहनेसे अभेद निर्देश और स्वरूपसे भेद निर्देश इस तरह दोनों प्रकारसे निर्देश उपपन्न होता है, क्योंकि 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा०' (जो प्राण है वह प्रज्ञा है जो प्रज्ञा है वह प्राण है, निश्चय ही ये दोनों इस शरीरमें साथ ही साथ रहते हैं और साथ ही साथ उत्क्रमण करते हैं) ऐसी श्रुति है । यदि प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म स्वीकार करें, तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि कौन किससे भिन्न होगा ? अतः यहाँ जीव और मुख्यप्राण इन दोनोंमें से कोई एक अथवा दोनों ही प्राणशब्दसे प्रतीत होते हैं, ब्रह्म नहीं । यह पूर्वपक्षका अभिप्राय है । यह ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उपासना तीन प्रकार की होगी । यदि ऐसा माना जाय तो जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना इस तरहसे तीन प्रकारकी उपासनाएँ प्रसक्त होंगी । किन्तु एक वाक्यमें यह सब स्वीकार करना युक्त नहीं है, कारण कि उपक्रम और उपसंहारसे एकवाक्यता अवगत होती है । 'मामेव विजानीहि' ऐसा आरम्भ करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा०' (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ उस मेरी आयु और अमृतरूपसे उपासना करे) ऐसा कहकर अन्तमें 'स एष प्राण एव०' (वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) तो इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार एकरूप दृष्ट होते हैं । अतः यहाँ (ब्रह्मरूप) एक अर्थका आश्रय करना ही युक्त है । और ब्रह्मलिंगको अन्यमें (जीव तथा मुख्यप्राणमें) परिणत-समन्वित नहीं कर सकता, क्योंकि दस भूतमात्राओं और दस प्रज्ञामात्राओंका ब्रह्मसे भिन्न अन्यमें अर्पण (अधिष्ठानरूप लिङ्गका समन्वय) करना युक्त नहीं है, कारण कि ये [ब्रह्मके] आश्रित हैं । दूसरे स्थलोंमें भी ब्रह्मलिङ्गके बलसे प्राण शब्दकी ब्रह्ममें प्रवृत्ति है अर्थात् प्राणशब्द ब्रह्मके आश्रित है । और यहाँ भी हिततमत्वका उपन्यास आदि ब्रह्मलिङ्गके योगसे यह ब्रह्मका ही उपदेश है, ऐसा ज्ञात होता है । 'इदं शरीरं०' (इस शरीरको ग्रहण कर उठाता है) यह जो मुख्य प्राणका लिङ्ग

सत्यानन्दी-दीपिका

स्थित होनेपर सब स्थित होने लगे । तब सभी वे मिथ्या अभिमानको छोड़कर मुख्यप्राणकी स्तुति की । इसप्रकार यह संवाद मुख्यप्राणका स्पष्ट लिङ्ग है ।

✽ किञ्च दस भूतमात्राओं (आकाश आदि पाँच महाभूत और शब्द आदि पाँच विषय) और दस प्रज्ञामात्राओं (शब्द आदि विषयक पाँच ज्ञान और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) का ब्रह्मसे भिन्न अन्य

स्यापि परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' (काठ० २।५।५) इति श्रुतेः । यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितं तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति । नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते । तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थ उपदेशो न विरुध्यते । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' (के० १।४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति । * यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति—नैष दोषः; ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद

दिखलाया गया है, वह ठीक नहीं है । क्योंकि प्राणका व्यापार भी परमात्माके अधीन है । अतः परमात्मामें उसका उपचार (गौण प्रयोग) हो सकता है, कारण कि 'न प्राणेन०' (कोई भी प्राणी न तो प्राणसे ही जीवित रहता है और न अपानसे ही, किन्तु वे तो जिसमें ये दोनों आश्रित (अध्यस्त) हैं, ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते हैं) ऐसी श्रुति है । और 'न वाचं०' (वाणीके जाननेकी इच्छा न करे किन्तु वक्ताको जाने) इत्यादिसे जो जीवके लिंग दिखलाए गए हैं वे भी ब्रह्मपक्षका निवारण नहीं करते, क्योंकि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियोंसे यह स्पष्ट होता है कि जीव ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न नहीं है । ब्रह्म ही बुद्धि आदि उपाधिकृत विशेष (परिच्छिन्नत्वादि) का आश्रय कर जीव होता हुआ कर्ता और भोक्ता है, ऐसा कहा जाता है । उपाधिकृत विशेषके त्यागसे उसके यथार्थ स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान करानेके लिए, 'न वाचं०' इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसको प्रत्यगात्माकी ओर अभिमुख करनेके लिए [यह वक्तृत्व] उपदेश विरुद्ध नहो है । 'यद्वाचा०' (जो वाणीसे प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है अर्थात् जिसकी सत्तासे वाणी अपना वदन—शब्द व्यापार करती है, उसको ही तुम ब्रह्म जानो । जिस इस [देश-कालावच्छिन्नवस्तु] की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है) इत्यादि दूसरी श्रुति वचन आदि क्रियाओंमें व्यापृत आत्मा ब्रह्म है ऐसा दिखलाती है । 'सह ह्येतावस्मिन्०' (निश्चय ये दोनों—प्राण और प्रज्ञात्मा इस शरीरमें साथ ही साथ रहते हैं और साथ ही साथ निकलते हैं) इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्माका भेद दर्शन ब्रह्मवादमें उपपन्न नहीं होता, ऐसा जो कहा गया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्यगात्माके उपाधिरूप ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके आश्रय बुद्धि और प्राणका तो भिन्नरूपसे निर्देश युक्त है ; परन्तु दोनों उपाधियोंसे उपहित प्रत्यगात्माका तो स्वरूपसे अभेद है । इसलिए 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' (प्राण

सत्यानन्दी-दीपिका

कोई अधिष्ठान नहीं हो सकता है । 'अतएव प्राणः' 'प्राण इति होवाच' इत्यादि स्थलोंमें भी ब्रह्मके बहुत लिङ्ग हैं । और निरतिशय आनन्द ही सबके लिए हिततम है, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।६) (आनन्द ब्रह्म है ऐसा भृगुने जाना) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (विज्ञान आनन्द ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मको ही आनन्द स्वरूप कहती हैं । इसलिए प्राण आदि शब्दसे यहाँ ब्रह्मका ही उपदेश है । जीव तथा मुख्य प्राणका नहीं है ।

* औपाधिक भेद और स्वरूपतः अभेदको लेकर उक्तदोषका निराकरण किया जाता है । प्रत्यगात्माकी उपाधिरूप जो ज्ञानशक्तिवाली बुद्धि और क्रियाशक्तिवाला प्राण, इन दोनोंका परस्पर भेद है । इससे तो 'सह ह्येतावस्मिन्' इस मन्त्रमें उनका औपाधिक भेद कहा गया है । परन्तु दोनों

इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम् । * अथवा—'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते । कथम् ? उपासात्रैविध्यात् । त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितम्—प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मेण च । तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादि प्रज्ञाधर्मः । * ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम् । यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः । नह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येत् । नो एतन्नाना । 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिताः स एष

ही प्रज्ञात्मा है) ऐसा एकीकरण अविरुद्ध है । अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इस सूत्र भागका यह दूसरा अर्थ है—ब्रह्मवाक्यमें भी जीव लिङ्ग तथा मुख्यप्राण लिङ्गका विरोध नहीं है, क्यों ? इसलिए कि उपासनाएँ तीन प्रकार की हैं । यहाँ प्राणधर्म, प्रज्ञाधर्म और स्वधर्मसे ब्रह्मोपासनाएँ तीन प्रकारकी विवक्षित हैं । उनमें 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' (आयुरूपसे, अमृतरूपसे मेरी उपासना करो आयु प्राण है) 'इदं शरीरं०' (इस शरीरको ग्रहणकर उठाता है) और 'तस्मादेत०' (इसलिए उसकी उक्थरूपसे उपासना करे) यह प्राणधर्म है । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै०' (अब जिस प्रकार इस प्रज्ञा-जीवमें सब भूत एक होते हैं उसका व्याख्यान करेंगे) ऐसा उपक्रमकर 'वागेवास्या० (वाणीने ही इस प्रज्ञाके एक अंगको-देहार्ध भागको पूर्ण किया, उसकी [चक्षु आदिसे] ज्ञापित भूतमात्रा दूसरे देहार्ध भागका कारण होती है, बुद्धिद्वारा चिदात्मा वाणीपर आरूढ़ होकर अर्थात् वाणीका प्रेरक होकर सब नामोंको प्राप्त करता है) इत्यादि प्रज्ञा-जीव धर्म हैं । 'ता वा एता' वे ये दस ही भूतमात्राएँ अधिप्रज्ञ-प्रज्ञाके अधीन हैं, और दस प्रज्ञमात्राएँ अधिभूत-भूतके अधीन हैं । यदि भूतमात्राएँ न हों, तो प्रज्ञामात्राएँ भी न हों और यदि प्रज्ञामात्राएँ न हों, तो भूतमात्राएँ भी न हों, क्योंकि दोनोंमें से किसी एकके न होनेपर केवल एकसे कोई भी रूप सिद्ध न होगा । यह नाना नहीं हैं । 'जैसे रथके अरोंमें नेमि लगी रहती है और नेमिमें अर जुड़े रहते हैं, इसीप्रकार ये

सत्यानन्दी-दीपिका

उपाधियोंसे उपहित प्रत्यगात्माका तो स्वरूपसे अभेद है । इससे 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' यह श्रुतिवाक्य प्राण और प्रज्ञात्माका अभेद निर्देश करता है । सुतरां सिद्धान्तमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है ।

* भगवान् भाष्यकार 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' सूत्रके इस उत्तरभागका स्वाभिमत व्याख्यानकर अब वृत्तिकारके मतानुसार व्याख्यान करते हैं । 'उत्थापयति इति उक्थम्' 'शरीरको ग्रहणकर उठाता है इससे प्राण उक्थ है' तो ये सब प्राणके धर्म हैं । प्रज्ञा पदसे यहाँ आभास सहित बुद्धिरूप जीवका ग्रहण है । जिसमें यह निवास करता है इस शरीरके दो भाग हैं, एक नाम और दूसरा रूप, चिदात्मा बुद्धिद्वारा वागिन्द्रियपर आरूढ होकर अर्थात् उसका प्रेरक होकर वागिन्द्रियद्वारा सम्पूर्ण नाम प्रपञ्चको वक्तव्यरूपसे प्राप्त करता है अर्थात् वक्ता होता है । और नेत्रसे सभी रूपोंको देखता है, इसप्रकार द्रष्टा होता है, इसीप्रकार सभी पदार्थोंका द्रष्टृत्व और चिदात्मामें द्रष्टृत्वके अध्यासका कारण होना यह सब बुद्धिका धर्म है ।

* भूतमात्राएँ ग्राह्य-विषय कहलाती हैं और प्रज्ञामात्राएँ ग्राहक । ग्राह्य भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओं-ज्ञानेन्द्रियोंसे सिद्ध होती हैं, इसलिए प्रज्ञामात्राओंके अधीन हैं, और प्रज्ञामात्राएँ (ज्ञानेन्द्रियां और चाक्षुष आदि ज्ञान) ग्राह्य भूतमात्राओंके अधीन हैं । इसप्रकार ग्राह्य और ग्राहक अपनी

प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः। तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम्। अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्। इहापि तद्युज्यते; वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओंमें अर्पित हैं और प्रज्ञामात्राएँ प्राणमें अर्पित हैं वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है', इत्यादि (स्व) ब्रह्मधर्म हैं। इस कारण ब्रह्मकी ही एक उपासना दोनों [प्राण तथा प्रज्ञा] उपाधियोंके धर्मसे तथा स्व-धर्मसे तीन प्रकारकी विवक्षित है। अन्य स्थलोंमें भी 'मनोमयः प्राणशरीरः' (प्राण जिसका शरीर है ऐसा मनोमय है) इत्यादिमें उपाधिके धर्मसे ब्रह्मको उपासनाका आश्रय किया गया है। यहाँ भी अन्यके धर्मसे अन्यकी उपासना युक्त है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे वाक्यकी एकार्थता प्रतीत होती है तथा प्राण, प्रज्ञा और ब्रह्मलिङ्गोंकी अवगति होती है। इस तरहसे यह सिद्ध हुआ कि यह ब्रह्मवाक्य ही है ॥ ३१ ॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके प्रथम अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥१॥

सत्यानन्दी-दीपिका

अपनी सिद्धिमें एक दूसरेकी अपेक्षा करते हैं। ग्राह्य और ग्राहक परस्पर सापेक्ष होनेसे वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, किन्तु चिदात्मामें आरोपित हैं। इस तरह सबका अधिष्ठान और 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि ये सब ब्रह्मके धर्म प्रतीत होते हैं। इसलिए 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादि स्थलोंमें प्राण और प्रज्ञाके धर्मोंसे भी ब्रह्मकी उपासना हो सकती है। ऐसा माननेसे वाक्यभेद † भी नहीं होगा। यदि वाक्यभेद नहीं है तो फिर उपासनाका भेद क्यों? वह इसलिए कि यहाँ प्राण, प्रज्ञा तथा ब्रह्मके भिन्न-भिन्न लिङ्गोंका दर्शन होता है। इससे ब्रह्मविषयक उपासना तीन प्रकारकी हो सकती है,

परन्तु वृत्तिकारद्वारा इसप्रकार की गई सूत्रकी व्याख्याको टीकाकारोंने स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ऐसा माननेपर भिन्न-भिन्न रूपसे तीन उपासनाएँ माननी पड़ेंगी। एकवाक्यमें ऐसा माननेसे वाक्यभेद प्रसक्त होगा अर्थात् 'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' 'तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' (कौ० ३।२) इस एक वाक्यमें 'माम्' अर्थात् प्रज्ञात्मा-जीवरूपसे 'आयुः' अर्थात् प्राणरूपसे और 'अमृतम्' अर्थात् ब्रह्मरूपसे अपने-अपने धर्मसे युक्त तीन उपासनाओंका प्रसंग उपस्थित होगा, एकार्थ प्रतिपादक वाक्यको अनेकार्थ प्रदिपादक मानना ही तो वाक्यभेद रूप दोष है, इससे 'प्राणोऽस्मि' इस उपक्रम वाक्य और 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इस उपसंहार वाक्यसे जो एक अर्थकी सिद्धि होती है उसका भङ्ग होगा। यदि भगवान् भाष्यकारका अनुसरण करें तो उपक्रम और उपसंहारसे एक ब्रह्मरूप अर्थकी ही सिद्धि होती है प्राण और प्रज्ञात्माकी नहीं। अतः 'प्राणोऽस्मि' 'मामेव विजानीहि' 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य ब्रह्मके ही प्रतिपादक सिद्ध होते हैं। पूर्वपक्षमें तीन उपासनाएँ मानी गई हैं, सिद्धान्तमें एक ब्रह्मको ही उपासना है, यह दोनोंमें अन्तर है ॥ ३१ ॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी-दीपिका' के प्रथम अध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥१॥

† टि०—मीमांसाशास्त्रको वाक्य शास्त्र भी कहते हैं। वाक्यसे वाक्यार्थ बोध कैसे होता है? इस विषयमें मीमांसकोंकी विचारपद्धतिको सभी भारतीय विद्वानोंने अपनाया है। वाक्यसे वाक्यार्थ बोध उद्देश्य विधेय भावावगाही होता है अर्थात् वाक्यजन्य बोधमें एक पदार्थ उद्देश्यतया भासता है और दूसरा विधेयतया, यह साधारण नियम है। परन्तु उद्देश्यका भेद होनेसे अथवा विधेयका भेद होनेसे अर्थात् दो उद्देश्य और दो विधेय होनेसे वाक्यस्वरूपका भंग हो जाता है। उद्देश्य-विधेय भावावगाही एकार्थोपस्थितिजनकता भावनाकी एककर्मवत्ता है अर्थात् भावनामें एक ही कर्म होता है